मानव-जीवन
और
भागवत-धर्म

अनन्त श्री

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

अनुक्रम

मानव-जीवन
और
भागवत-धर्म

आमुख

स्कन्धेऽध्याये प्रकरणे श्लोके वाक्ये पदेऽक्षरे।
सप्तधा विभजन्नर्थं श्रीमद्भागवतं वदेत् ॥

स्कन्ध, अध्याय, प्रकरण, श्लोक, वाक्य, पद और अक्षर इन सातोंका ध्यान रखते हुए, अर्थके साथ इन सातोंकी संगति बैठाते हुए श्रीमद्भागवतका प्रवचन करें।

बोपदेवने श्रीमद्भागवतपर 'हरिलीलामृतम्', 'मुक्ताफलम्' आदि तीन ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें उन्होंने बतलाया है कि श्रीमद्भागवतमें स्कन्ध, अध्याय, प्रकरण, श्लोक, वाक्य, पद तथा अक्षरतक इतने व्यवस्थित हैं कि उनमेंसे एक भी अक्षरको इधर-उधर करना, घटाना-बढ़ाना सम्भव नहीं। एक अक्षर भी घटाने-बढ़ानेपर पकड़में आ जायगा, श्रीमद्भागवत इतनी परिपुष्ट शैलीमें निर्मित है।

श्रीमद्भागवतमें पहले ही प्रतिज्ञा की गयी है :

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥

१.१.३

वेदरूपी कल्पवृक्षका यह पककर अपने आप गिरा हुआ फल है, जो शुकदेवके मुखका स्पर्श पाकर अमृतसे भर गया है। पृथ्वीके

रसज्ञ भावुक लोगो! इस श्रीमद्भागवतरूपी रसका जीवनभर बार-बार पान किया करें।

पूराका पूरा फल ही रसमय है। इसमें न गुठली है, न छिलका। ऐसी स्थितिमें इसकी एक बूँद भी व्यर्थ जाय—व्यर्थ मानने योग्य हो, ऐसी बात नहीं। लेकिन यहाँ न हम आपसे श्रीमद्भागवतके सिद्धान्तकी चर्चा कर रहे हैं और न इस ग्रन्थमें आयी स्तुतियों या उपदेशोंका व्याख्यान ही कर रहे हैं। इसमें जो स्थान-स्थानपर मानव-जीवनके साथ सम्बन्ध रखनेवाली घटनाएँ हैं, मात्र उन्हींका विहङ्गम-दर्शन कर रहे हैं।

× × ×

हम शान्त हों या विक्षिप्त, धनी हों या निर्धन, सुन्दर हों या कुरूप, रोगी हों या स्वस्थ, स्वजन मिले हों या बिछुड़ गये हों, जीवन हो या मरण—मानवको व्यवहारमें सदैव एकरस रहनेकी विद्या प्राप्त होनी चाहिए।

चार्वाक तथा बौद्ध कहते हैं: 'जीवन-मरण संसारका धर्म ही है। यह होता ही रहता है। इसकी परवाह न कर मनुष्यको निर्द्वन्द्व रहना चाहिए।'

सांख्यवादी कहते हैं: 'यह सारा संसार प्रकृतिका खेल है। इसमें द्रष्टा असंग है। उस द्रष्टाका प्रकृति-विकृतिसे विवेक कर लेना चाहिए।'

योगी कहते हैं: 'घंटे, दो घंटे समाधिमें बैठ जायँ तो उसका ऐसा नशा छा जाता है कि व्यवहार कुछ भी होता रहे, तनिक भी प्रभावित नहीं कर पाता।'

इस प्रकार सभी दर्शन व्यवहारकी संगति लगाते हैं। जो व्यवहारकी संगति न लगाये, वह दर्शन ही नहीं। योगकी समाधि, सांख्यका विवेक, जैनोंका स्वरूपावस्थान, बौद्धोंका शून्यवाद, विज्ञानवाद या वेदान्तका निर्लेपवाद, सभीमें व्यवहारकी संगति लगी हुई है।

भक्ति-सिद्धान्तमें ईश्वरपर विश्वास-आस्था और शरणगति है। वह रन-वनमें, एकान्त या भीड़में सर्वत्र शरणगत जीवकी रक्षा करती है। भागवत-सिद्धान्तकी यही विशेषता है कि इसमें कोई ऐसा स्थान नहीं, कोई ऐसा समय नहीं, जब और जहाँ ईश्वर हमारी रक्षा न करता हो।

× × ×

जैसे पिताकी सम्पत्ति अपने सभी पुत्रोंके लिए हुआ करती है, वैसे ही सृष्टिमें उत्पन्न प्राणिमात्रके कल्याणके लिए भागवत-धर्म है। यह केवल ब्राह्मण या संन्यासीके लिए ही नहीं है। भगवान्की यह सम्पत्ति धर्म ही है और उन्होंने उसे अपनी सम्पूर्ण प्रजाको बाँट दिया है। स्त्री-शूद्र-चाण्डाल ही नहीं, पशु-पक्षीका भी कल्याणकारी धर्म है। गजेन्द्र पशु ही तो था। जो पशुका भी कल्याण करता है, उस धर्मके सर्व-कल्याणकारी होनेमें सन्देह ही क्या ?

संजय शूद्र होनेपर भी परम भागवत थे। भगवान् व्यासने उन्हें अपना शिष्य बनाकर वह दिव्यदृष्टि दी, जिससे वे धृतराष्ट्रके समीप बैठे ही बैठे महाभारतका सारा युद्ध देखते तथा भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा गायी गयी गीताका संगीत सुनते। जिस विराट् रूपका दर्शन अर्जुनको हुआ, वह विराट्रूप संजय अपने ठौरपर ही देख सके।

विदुर शूद्र हैं; किन्तु ऋषि मैत्रेय उनका आदर करते हैं। विदुरने धृतराष्ट्रको धर्मका उपदेश किया। भगवान् श्रीकृष्ण विदुरके घर जाकर भोजन करते हैं। यह भागवत-धर्मकी महिमा है।

भागवत-धर्मके पालनमें न जाति-भेद है और न लिङ्ग-भेद। स्त्री, पुरुष दोनों समान भक्ति कर सकते हैं। सुर, असुर सभी भक्तिके अधिकारी हैं। वृत्र, प्रह्लाद, बलि, बाण ये सब असुर थे और भक्त भी। इसका अर्थ है, स्वभाव-भेद भी भागवत-धर्मके पालनमें बाधक नहीं होता।

सकृद् यन्नामग्रहणात् पुल्कसोऽपि विमुच्यते संसारात्। एक कसाई भी भागवत-धर्मका पालन करे—एक बार भगवान्का नाम ले, तो वह भी संसारसे मुक्त हो जाता है। **श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते** कुत्तेका मांस खानेवाला भी तत्काल यज्ञफलका भागी बन जाता है।

तात्पर्य यह कि भागवत-धर्ममें कर्म-भेदसे अधिकार-भेद नहीं। स्वभाव-भेदसे अधिकार-भेद नहीं। जाति-भेदसे अधिकार-भेद नहीं। लिङ्ग-भेदसे अधिकार-भेद नहीं। सभीका इस भागवत-धर्ममें अधिकार है और यह सबके लिए परम कल्याणकारी है।

× × ×

श्रीमद्भागवतकी प्रवृत्ति **सत्यं परं धीमहि** से होती है। हम परम सत्यका चिन्तन करते हैं। हमसे मतलब है : वक्ता-श्रोता, गुरु-शिष्य सभी।

कोई स्थिति-विशेष प्राप्त करना श्रीमद्भागवतका लक्ष्य नहीं। कोई सविचार रहे या निर्विचार हो जाय, समाधिशास्त्रका परम

तात्पर्य भागवतका परम तात्पर्य नहीं। श्रीमद्भागवत एक दृष्टि देता है, ऐसी दृष्टि जिससे आप समाधि एवं व्यवहार दोनोंमें सुखी रहें। ऐसा ज्ञान देता है, जो लोक-व्यवहार और परमार्थ दोनोंमें समान रूपसे उपयोगी हो।

ग्रन्थके प्रारम्भमें—**विष्णुं परं धीमहि, शम्भुं परं धीमहि, शक्तिं परं धीमहि** या **ईशं परं धीमहि** नहीं कहा गया। 'हम विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य, गणपति आदि भिन्न-भिन्न रूपोंमें भिन्न-भिन्न देवताओंकी वन्दना करते हैं' इस प्रकार श्रीमद्भागवतका प्रारम्भ कभी नहीं हुआ। श्रीमद्भागवतका प्रारम्भ हुआ : **सत्यं परं धीमहि** से अर्थात् जो परम सत्य है, उसका हम चिन्तन-ध्यान करते हैं।

शास्त्रका काम है दृष्टि देना। वे ऐसी दृष्टि देते हैं जो हर अवस्थामें हमारे लिए उपयोगी हो। भक्तिशास्त्र दृष्टि देते हैं : 'सब भगवान्‌का स्वरूप है।' तत्त्वदृष्टिसे शास्त्र यह दृष्टि देते हैं : 'सब परमात्मा है। इसमें भेद-बुद्धिके कारण जो हम राग-द्वेष करते हैं, वह भेद-भ्रान्ति गलत है। यह भेद-भ्रान्ति निवृत्त हो जाय तो मनुष्य कैसी भी स्थितिमें रहे, परमानन्दमय ही रहेगा।' यहींसे श्रीमद्भागवतका प्रारम्भ होता है। और, अन्तमें भी यही बात कही गयी है :

तच्छुद्धं विमलं विशोकममृतं सत्यं परं धीमहि।

जो शुद्ध है, निर्मल है, विशोक है, अमृत है, उस परसत्यका हम ध्यान करते हैं।

इसका अभिप्राय यह कि श्रीमद्भागवत किसी गुट-विशेष, तन्त्र-विशेष या सम्प्रदाय-विशेष द्वारा मान्य सत्यका प्रतिपादन नहीं

करता; प्रत्युत सार्वभौम सत्य, सार्वकालिक सत्य, सार्वदेशिक सत्यका प्रतिपादन करनेके लिए ही उसका आविर्भाव हुआ है।

× × ×

श्रीमद्भागवतसे कौन-कौन लाभ उठाते हैं, इसका एक बड़ा मार्मिक प्रसङ्ग ग्रन्थमें ही है।

उन दिनों वर्षा नहीं हो रही थी। अन्नकी फसल सूख गयी। सारी प्रजा क्षुधा-प्रपीड़ित थी। लेकिन महाराज पृथुने जब पृथ्वीका दोहन प्रारम्भ किया तब पशुओं, पक्षियों, सर्प, बिच्छू तकने—सृष्टिमें जितने भी मानवादि प्राणी हैं तथा देवता, दानव सबने—अपना-अपना भोजन प्राप्त किया। इसीका नाम है, भागवत-धर्म। यह केवल मनुष्यतक ही सीमित नहीं। सृष्टिके समग्र प्राणियों—कीड़े-मकोड़ों तकके लिए यह पोषक है।

साथ ही सम्पूर्ण-सृष्टिकी शुद्धि भी भागवत-धर्ममें है। पृथ्वीमें जो दोष है, उसकी निवृत्ति भगवान् करते हैं। जलमें जो दोष है, उसकी निवृत्ति भगवान् करते हैं। अग्निमें जो दोष है, उसकी निवृत्ति भगवान् करते हैं। वायुमें जो दोष है उसकी निवृत्ति भगवान् करते हैं। आकाशमें जो दोष है, उसकी निवृत्ति भगवान् करते हैं।

श्रीमद्भागवतमें न केवल मनुष्योंके लिए, प्रत्युत सम्पूर्ण प्राणियोंके पोषणार्थ तथा सम्पूर्ण तत्त्वोंके शोधनार्थ जो विधि-विधान अपेक्षित है, सबका वर्णन है। यदि ऐसा न होता तो भागवत-धर्म 'भागवत-धर्म' ही न कहलाता। भागवत-धर्म उसीको कहते हैं, जो भगवान्की सम्पूर्ण प्रजाके लिए हो। जो भी भगवान्से उत्पन्न हुआ है, वह चाहे तत्त्वात्मक सृष्टि-सर्ग हो या

विविध प्रजात्मक सृष्टि-विसर्ग, सबके कल्याणके लिए जो धर्म है, उसीको 'भागवत-धर्म कहते हैं।

जब सबके कल्याणके लिए भागवत-धर्म है, तब उसमें एशिया, अफ्रीका, यूरोप, अमेरिका, आस्ट्रेलिया आदिका राष्ट्रभेद कैसे हो सकता है ? वह तो सबके लिए, अन्तरराष्ट्रके लिए कल्याणकारी होता है। फलतः 'अमुक वस्तु धर्म है और अमुक वस्तु अधर्म, अमुक क्रिया धर्म है और अमुक क्रिया अधर्म' इस ढंगसे धर्मका प्रतिपादन भागवत-धर्म नहीं करता। क्योंकि वस्तु और क्रिया यह जो गुण-दोषोंकी ऐन्द्रियक उपलब्धि होती है, उसकी अपेक्षा गुणरूप और दोषरूप पदार्थ या क्रिया मानी जाती है। अतः गुण-दोषके विचारसे धर्माधर्मका निर्णय नहीं होता। विधि-निषेधके विचारसे ही उसका निर्णय होता है।

ऐन्द्रियक उपलब्धिरूप जो गुण-दोष हैं, वे धर्माधर्मके निर्णयमें प्रमाण नहीं। विधि-निषेध ही धर्माधर्ममें प्रमाण हैं। अतः श्रीमद्भागवत केवल सत्यके सम्बन्धमें ही सर्वत्र भरपूर है। बल्कि 'सर्वत्र' कहनेसे जो देशका बोध होता है, उसे भी काटकर वह परिपूर्ण है। श्रीमद्भागवतका सत्य सार्वकालिक है। उसमें जो काल-सम्बन्ध लगता है, उसे काटकर जो कालातीत है, वही सत्य भागवतका सत्य है। वस्तुओंका भेद मिटाकर जो सम्पूर्ण वस्तुओंमें रहनेवाला है, उसीका वर्णन यहाँ है।

इसलिए एक कक्षामें ही सीमित कर देना कि समाधि लगानेसे भागवत-धर्म होता है, ठीक नहीं। वर्णन तो ऐसा भी आया है कि निरर्थक कर्म भी भागवत-धर्म होते हैं।

एक मनुष्यको भय लगा तो वह भागा। उसके मनमें आया— 'मन्दिरमें भगवान् हैं, वहाँ जाकर छिप जाऊँ।' पर मन्दिरतक

पहुँच नहीं पाया, मार्गमें ही मर गया। फिर भी उसके द्वारा भागवत-धर्मका पालन हो गया, क्योंकि उसका उद्देश्य भगवान्के समीप पहुँचना जो बन चुका था।

केवल सत्यका अनुसन्धान करना, सम्पूर्ण प्राणियोंका हित करना, देश-काल-वस्तुमें सीमित न होना, यही भागवत-धर्म है। मानव-धर्मकी विलक्षण गति है, मनुष्य कौन ? **मनसा दिव्यति—** वह जो अपने मनसे सम्बन्ध जोड़ता है।

मनुष्य श्रद्धा एवं मनुकी सन्तान है। केवल वैज्ञानिकोंके लिए मानवता नहीं। जो वैज्ञानिक अनुसन्धान नहीं कर पाते, उन श्रद्धालुओंके लिए भी मानवतामें स्थान है। बिना श्रद्धाके कोई मानव 'मानव' नहीं बनता।

जो मननशील हो, उसे 'मनु' कहते हैं। जो श्रद्धा सम्पन्न हो, उसे 'श्रद्धालु' कहते हैं। मानवके मूलमें माताके रूपमें 'श्रद्धा' और पिताके रूपमें मननात्मक 'मनु' हैं। मानव उसे कहते हैं, जो विचार और श्रद्धा दोनों द्वारा संचालित हो।

इसीलिए भागवत-धर्म केवल ज्ञानियों, विचारवानोंके लिए ही नहीं है :

> **ये वै भगवता प्रोक्ता ह्युपाया ह्यात्मलब्धये।**
> **अञ्जः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान् ॥**

भगवान्ने अज्ञानियोंके लिए भी जिस कल्याणकारी धर्मका उपदेश किया है, वही भागवत-धर्म है।

> **इदं भगवता पूर्वं ब्रह्मणे नाभिपङ्कजे।**
> **स्थिताय भवभीताय कारुण्यात्सम्प्रकाशितम् ॥**

'भगवता ब्रह्मणे प्रोक्तं भागवतम्'—भगवान्ने करुणा-परवश हो सम्पूर्ण प्राणियोंके लिए, अपनी प्राप्तिकी दृष्टिसे, सब तरहकी परिच्छिन्नता-सङ्कीर्णताकी सीमित भावनाओंसे मुक्त हो नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, परमसत्य परमात्माकी ओर प्राणी अग्रसर हों, इस दृष्टिसे ब्रह्माको अर्थात् समष्टि-अन्तःकरणमें स्थित हिरण्यगर्भको अन्तर्यामी प्रभुने अपनी प्राप्तिके जो उपाय बतलाये, जिनसे हिरण्य-गर्भसे लेकर स्तम्बपर्यन्त सबका कल्याण हो; लौकिक-पारलौकिक परममङ्गल हो जिससे सबके अर्थकी सिद्धि हो, धर्मकी सिद्धि हो, भोगकी सिद्धि हो, मोक्षकी सिद्धि हो और प्राणीको सब प्रकारका मङ्गल प्राप्त हो, उस धर्मका नाम भागवत-धर्म है।

इस धर्मके साथ 'भारतीय' शब्द जुड़ा नहीं है। धर्मके पहले तो कोई 'उपपद' लगता ही नहीं। लोग जब किसी आचार्य-विशेषके साथ उसका सम्बन्ध जोड़ देते हैं, तब उसके नाम बौद्ध-धर्म, जैन-धर्म, ईसाई-धर्म, इस्लाम-धर्म आदि हो जाते हैं। पर हमारे भारतीय साहित्यमें, वैदिक-वाङ्मयमें सर्वत्र 'धर्म' शब्दका प्रयोग बिना किसी विशेषणके होता है। देखिये :

'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा।' 'लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति।' 'धर्मेण पापमपनुदति।' 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस-सिद्धिः स धर्मः।' 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः।' 'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः।'

इन सभी धर्मलक्षण-वचनोंमें कहीं भी धर्मके साथ कोई विशेषण नहीं। धर्म तो सम्पूर्ण भागवत-सृष्टिके कल्याण, रक्षण एवं मङ्गलके लिए होता है।

यहाँ यह बात ध्यानमें रखनी होगी कि हमलोग जिस ईश्वरका निरूपण करते हैं, वह ईश्वर वही है जो समग्र सृष्टिकी उत्पत्तिके पूर्व था एवं सृष्टिके नाशके अनन्तर भी रहेगा। उसमें जाति, देश या सम्प्रदायका कोई सम्बन्ध नहीं। हमारा ईश्वर हिन्दू-ईश्वर, ईसाई-ईश्वर या मुस्लिम-ईश्वर नहीं है। हमारा ईश्वर जगत्का अभिन्न-निमित्तोपादान कारण है।

अनेक धर्म ईश्वरकी स्वीकृतिके बिना भी चलते हैं। लेकिन जो धर्म ईश्वरको स्वीकार करते हैं, उनमें भी ईश्वरके स्वरूप-पर विचार न करनेके कारण बड़ी गड़बड़ी हो जाती है। कई धर्मोंमें ईश्वर निराकार माना जाता है और वह सृष्टि बनाकर उससे सर्वथा पृथक् रह जाता है। लेकिन वैदिक-धर्मके सभी सम्प्रदाय—शैव, शाक्त, सौर, गाणपत्य, शङ्कर, रामानुज, निम्बार्क, वल्लभ आदि—यह स्वीकार करते हैं कि 'ईश्वर सृष्टि रचकर उससे पृथक् नहीं हो जाता। स्वयं वह सृष्टिके रूपमें समा जाता है। वही सृष्टिका अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है।' जैसे घड़ेमें मिट्टी, आभूषणमें सोना, हथियारमें लोहा या कपड़ेमें सूत है, वैसे ही ईश्वर सम्पूर्ण सृष्टिमें सृष्टिके स्वरूपसे ही विद्यमान है।

श्री मध्वाचार्य कहते हैं : **अहम् इदं सर्वं भगवानेव**। आप दूसरे धर्मों, सम्प्रदायोंके ईश्वरके विषयमें जानते हैं और उसकी कल्पना हमारे शास्त्रप्रतिपादित ईश्वरके साथ जोड़ देते हैं तो बड़ी भारी गड़बड़ी हो जाती है।

हमारा ईश्वर इस सृष्टिके रूपमें साक्षात् विद्यमान है। वह हमारे जीवनमें है। हमारे चलने-बैठने, बोलने-करने, खाने-पीने, यहाँतक कि हमारे सोनेमें भी वह है। इसी कारण केवल निर्वि-

चार-दशामें ही ईश्वरकी प्राप्ति नहीं, केवल समाधिमें ही ईश्वरकी प्राप्ति नहीं है :

जहँ जहँ चलौं सोई परिकरमा, जो जो करौं सो पूजा।

यह समदृष्टि हमारे ईश्वरके ज्ञानके साथ जुड़ी है।

× × ×

जितने द्वैत हैं वे सबके सब मिथ्या हैं। जैसे : प्रमाण-प्रमेय, कार्य-कारण, द्रष्टा-दृश्य, आत्मा-अनात्मा आदि। सभी द्वैत प्रतीत्य-समुत्पाद्य हैं। हम जब किसीका बेटा होना निश्चित करते हैं तो उसके बापका होना भी निश्चित हो जाता है। जब किसीका बाप होना निश्चित करते हैं, तो उसके बेटा होनेका भी निश्चय हो जाता है। यह बाप-बेटा दोनों, दोनोंकी प्रतीतिकी अपेक्षा रखते हैं। इसलिए 'हमें इन्द्रियोंसे इस वस्तुकी उपलब्धि होती हैं, इस आधारपर जब किसी तत्त्वका निश्चय करते हैं, तब इन्द्रियोंकी सामर्थ्यकी कमी—उनके द्वारा केवल नाम-रूप, शब्द-स्पर्श-गन्धका आकर्षण-विकर्षण—हमें उलझा लेती है। उनके द्वारा सिद्धतत्त्वका कभी ग्रहण नहीं होता।

वैष्णवजनोंने कहा : 'कार्य-कारण दोनों सत्य है।'

श्रीमद्भागवतके दृष्टिकोणपर विचार करें तो यह निकलेगा कि 'कार्य-कारण दोनोंसे परे, दोनोंसे विलक्षण एक वस्तु है। वही सत्य है। कार्य-कारण दोनों उसमें अध्यारोपित हैं।' **यदध्यारोपितं तन्निषिध्यते**—जिसका अध्यारोप होता है, उसका निषेध भी हो जाता है। जिसमें अध्यारोप होता है, उसमें अध्यारोपितका निषेध हो जानेके बाद वह वस्तु ज्यों-की-त्यों सत्य रह जाता है।

उपासना-सिद्धान्तमें सत्य ही दो प्रकारका मानते हैं : १. ईश्वर-सत्य २. जगत्-सत्य। ईश्वर बनानेवाला, रहनेवाला नित्य-सत्य है। जगत् बननेवाला तथा मिटनेवाला दो नम्बरका सत्य है।

बौद्ध कहते हैं : 'आप जिसे एक और दो नम्बरका सत्य मानते हो, वह सापेक्ष है, अतः दोनों ही निःस्वभाव हैं। बिना कार्यके कारणका और बिना कारणके कार्यका कोई अस्तित्व ही नहीं है।'

इसका उत्तर देनेके लिए वेदान्तका मत ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भागवतमें है। वह मत है : 'असत्य दो प्रकारका है—१. जो कभी नहीं भासता। जैसे : आकाश-कुसुम, वन्ध्यापुत्र। २. जो भासता हुआ भी परिवर्तनशील होता है, वह कालमें बाधित हो जाता है। किन्तु सत्य तो एक ही है और वह ज्यों-का-त्यों रहता है। उसमें कालकी दाल नहीं गलती। उसमें देशका प्रवेश नहीं। उसमें कार्य-कारणभाव नहीं।'

श्रीमद्भागवतमें इसी परम सत्यका निरूपण किया गया है। यह परमसत्य न उपासना-सिद्धान्तमें मान्य उभयविध सत्य है और न बौद्धोंद्वारा खण्डित उभयविध असत्य। यह दोनोंसे विलक्षण अद्वितीय सत्य है। भागवत-धर्म इसी परम सत्यका उद्घोष करता है।

२ || भागवतकी विशेषता

श्रीमद्भागवतके सम्पूर्ण प्रश्न ही सार्वभौम दृष्टिसे हैं। महर्षि शौनकने सूतसे पहला ही प्रश्न यह किया है :

तत्र तत्राञ्जसाऽऽयुष्मन् भवता यद्विनिश्चितम्।
पुंसामेकान्ततः श्रेयस्तन्नः शंसितुमर्हसि॥'

१.१.९

'आयुष्मन् सूतजी! आपने इतिहास और पुराण भलीभाँति पढ़े हैं और उनका प्रवचन भी किया है। धर्मशास्त्रोंके आप अध्येता हैं। वेदवेत्ता भगवान् व्यास तथा दूसरे ऋषि-मुनि जो भी इह-लोक एवं परलोकके सम्बन्धमें जानते हैं, उनकी कृपासे आप वह सब जानते हैं। अतः उन सबमें आपने पुरुषके आत्यन्तिक कल्याणके लिए जो उपयोगी निश्चित किया है, वही हमें बतलाइये।'

आजके लोग आक्षेप करते हैं : 'पहलेके लोग व्यक्तिगत सुख और व्यक्तिगत कल्याणकी दृष्टिसे ही विचार करते थे। जो नाम-जप करेगा उसका कल्याण होगा, जो ध्यान या समाधि लगायेगा उसका कल्याण होगा—इस प्रकार पहले केवल व्यक्तिके हिसाबसे ही लोग धर्मका विचार करते थे।'

ऐसा आक्षेप करनेवालोंको यह देखकर आश्चर्य होगा कि श्रीमद्भागवतकी विचारशैली व्यक्तिगत, सम्प्रदायगत, प्रान्तगत

या राष्ट्रगत नहीं है। सम्पूर्ण मानवताके हितके लिए ही पहला प्रश्न उठाया गया है कि 'सम्पूर्ण शास्त्रोंका तात्पर्य क्या है?' इस-लिए कि इस युगमें लोगोंकी जो स्थिति है, वह बड़ी विलक्षण है :

प्रायेणाल्पायुषः सभ्य कलावस्मिन् युगे जनाः।
मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्या ह्युपद्रुताः॥ १.१.१०

आज मानव प्रायः अल्पायु हो गये हैं। थोड़ी आयु होनेपर भी काम करना नहीं चाहते। चाहते हैं कि हम दूसरेके श्रमसे लाभ उठायें। बड़े आलसी हो गये हैं लोग। आलसी हों, पर तीक्ष्ण-बुद्धि हों तो आलस्यका पोषण करते हुए भी दूसरोंसे काम ले सकते हैं। किन्तु बुद्धि भी इनकी अति मन्द है और भाग्यवान् भी नहीं कि प्रारब्ध ही उन्हें सुख दे—मन्द-भाग्य है। भाग्यहीन भी हों, पर शुद्धान्तःकरण हों तो शान्ति पायें; लेकिन राग-द्वेषादि उपद्रवोंसे भी ग्रस्त हैं। ऐसे लोगोंका कल्याण कैसे हो?

तात्पर्य यह कि इस श्रीमद्भागवत-धर्मकी प्रवृत्ति सम्पूर्ण प्राणियोंके लिए तो है ही, सम्पूर्ण मानवताके लिए है। सम्पूर्ण मानव ही इसके अधिकारी हैं और इससे लाभ उठा सकते हैं। मेरे एक मित्र कहते हैं कि 'श्रीमद्भागवतने तो क्रान्ति ही कर दी है।'

पहले ऐसी व्यवस्था थी कि यज्ञोपवीत-सम्पन्न, नित्य सन्ध्या करनेवालेको छोड़कर दूसरे वेदका स्वाध्याय न करें। व्यासजी महाराजके मनमें कृपाका उदय हुआ। उन्होंने सबके लिए महा-भारतके व्याजमें वेदार्थ सुलभ कर दिया :

स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्।
भारत-व्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः॥

इस प्रकार स्त्री, शूद्र तथा द्विज-बन्धु (सन्ध्यादिसे च्युत द्विज) भले ही वेदके शाब्दिक रूपसे वञ्चित रहें, किन्तु वेदार्थसे वञ्चित न रहें, यह व्यासजीकी उदाराशयताका प्रमाण है।

निश्चय ही स्त्री, शूद्र तथा द्विजबन्धु जनोंके लिए यह व्यवस्था करनेमें बड़ी भारी उदारता है। वेदोंके पाठकी जो शैली है—जटा, धन आदि; उदात्त, अनुदात्तादि जो स्वर हैं, उनके पाठका परिश्रम न पड़े, श्रुतिको कण्ठस्थ न करना पड़े, गुरुगृहमें न रहना पड़े और वेदार्थ प्राप्त हो जाय! इस रीतिसे व्यासजीने वेदरूप तिजोरीके धनपर सर्व-साधारणका अधिकार सुलभ कर दिया।

इतनेसे भी काम पूरा नहीं हुआ। वेदोंमें सकाम कर्मोंका वर्णन बहुत है। इसीसे जब वेदोंका अर्थ महाभारतके रूपमें प्रकट हुआ। पर महाभारतमें भी सकाम कर्मोंका निरूपण बहुत अधिक किया गया। इसके लिए देवर्षि नारदने व्यासजीको उलाहना भी दिया है :

जुगुप्सितं धर्मकृतेऽनुशासतः
स्वभावरक्तस्य महान् व्यतिक्रमः।
यद्वाक्यतो धर्म इतीतरः स्थितो
न मन्यते तस्य निवारणं जनः॥

१.५.१५

'व्यासजी! तुमने महाभारतमें एक भारी भूल की है। धर्मकी रक्षाके लिए ही सही, पर जुगुप्सितम् अर्थात् सकाम कर्मका, हिंसाप्रधान कर्मका अनुशासन (विधान) जो किया।'

यद्यपि महाभारतका प्रतिपाद्य मुख्य रस शान्त है, उसका स्थायीभाव निर्वेद है। प्रारम्भसे अन्ततक यदि महाभारत पढ़ा जाय तो यही निकलेगा कि धन, स्त्री, राज्यके लिए भाई-भाईमें युद्ध छिड़ जाता है और उसका परिणाम विनाश होता है। अतः

किसी भी बुद्धिमान् पुरुषको जुआ नहीं खेलना चाहिए और धन, स्त्री या राज्यके लिए इतना भयंकर युद्धकाण्ड नहीं करना चाहिए। अन्तमें युधिष्ठिरको भी रोना पड़ा—दुःखी होना पड़ा। जब उनको वैराग्य हुआ, तभी शान्तरसकी उन्हें उपलब्धि हुई।

जैसे वाल्मीकीय रामायण करुणरस-प्रधान है, वैसे ही महाभारत शान्तरस-प्रधान। लेकिन जब विचार करके देखते हैं, तो उसमें कामनाओं की प्रधानता मिलती है। नारद जी कहते हैं: संसारके लोग तो अर्थ और भोगमें स्वभावसे ही लगे हैं। वे समझते हैं कि धर्म और भक्ति करेंगे तो हमें लौकिक वस्तुओंकी प्राप्ति होगी। लोग अर्थ और भोगको प्रधान मानते हैं और धर्मको उनका साधन।

नारदजी कहते हैं: **महान् व्यतिक्रमः।** मनुष्य-जीवनमें यह भारी व्यतिक्रम हो गया; क्योंकि आपके (व्यासजीके) वचनसे ही लोग धर्माधर्मका निर्णय करते हैं। साधारण पुरुष जो धर्माधर्म-का निर्णय नहीं कर सकते, वे आपके वचनसे सकामताको भी धर्म मान लेंगे। **न मन्यते तस्य निवारणं जनः**—कोई कहें कि 'यह अन्य अभिप्रायसे कहा है' तो भी उनकी वह बात लोगोंकी समझमें नहीं आती।

पूर्वमीमांसक कहते हैं: 'शास्त्रोंमें संन्यासादि त्यागका विधान गृहस्थ-धर्मके अयोग्य, पंगु, नपुंसकादिके लिए है: मनुष्यको मुख्यतः अर्थ और काममें ही लगना चाहिए।' वे **यावज्जीवम् अग्निहोत्रं जुहुयात्** इस प्रकारकी श्रुतियोंको ही मुख्य मानते हैं। उनकी मान्यता है कि 'यहाँ धर्म करें तो मरनेपर स्वर्गमें जाकर भोग मिलेगा।'

जहाँ सम्पूर्ण शास्त्रोंका तात्पर्य था कि मनुष्य अर्थ और भोगको प्रधान न माने। अपने जीवनमें परमसत्यकी अनुभूति हो, भगवदनु-

भूति हो, इसके लिए भागवत-धर्मका ही पालन करें—निष्काम हो जायँ, वहीं ये मीमांसक भ्रममें पड़ गये।

उनके समक्ष **परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेद-मायात्** इस श्रुतिकी व्याख्या की जाती है, तो वे उसे मानते ही नहीं। कहते हैं : 'यह सब तो गार्हस्थ्यके अनधिकारियोंके लिए है। 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य भी केवल यजमानकी स्तुतिके लिए हैं। मनुष्यको तो लौकिक एवं पारलौकिक सुखके लिए ही प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि उन्हें तो प्रत्यक्ष चाहिए। इस लोकमें सुख प्रत्यक्ष है और मरनेके बाद भी सुखका प्रत्यक्ष है—वहाँ भी अप्सरा अमृतपानादि मिलते हैं।' बस, इन्हीं बातोंमें लोग लग गये हैं।

वास्तवमें यह स्वर्गादि-वर्णन तीन बातें समझानेके लिए है : १. देहसे आत्मा भिन्न है। २. मरनेके बाद भी आत्मा रहता है। ३. वासनाका फल मिलता है। ४. और चौथी बात यह कि शास्त्र इस वर्णनसे यह समझाना चाहते हैं कि श्रुतियोंका तात्पर्य-निर्णय किस तरह करना चाहिए।

लेकिन मनुष्यकी जब अर्थ और भोगमें आसक्ति हो जाती है, तो समझानेका यत्न करनेपर भी वह समझ नहीं पाता। इसीलिए देवर्षि कहते हैं : 'व्यासजी ! आप अब ऐसा ग्रन्थ बनाइये जिसमें भगवान्‌की लीलाओंका, महिमाओंका वर्णन हो, जिससे लोगोंके हृदयमें भक्तिभाव जागृत हो।'

इस प्रकार जहाँ अन्य पुराण विष्णुप्रधान, शिवप्रधान, देवी-प्रधान, गणेश या सूर्यप्रधान हैं, वहीं श्रीमद्भागवत सत्य-प्रधान है। जहाँ अन्य पुराण अमुक-अमुक आकारों, रूपोंमें ही ईश्वरको मान्यता देकर सम्प्रदायोंको प्रधानता प्रदान करते हैं, वहीं श्रीमद्भागवत

कहता है : **सत्यं परं धीमहि**। यह सब सम्प्रदायोंसे परेका सत्य प्रकट करता है।

× × × ×

उपनिषदें चित्-तत्त्वकी प्रधानतासे वस्तुका निरूपण करती हैं; क्योंकि उनमें तत्त्वज्ञानका विषय हो प्रधान है। लेकिन महाभारत सत् या यथार्थघटना-प्रधान है। वह सत्-तत्त्वकी प्रधानतासे वस्तुका निरूपण करता है। उसमें कर्म–कर्माश्रय द्रव्य–सत्-तत्त्वका निरूपण मुख्य है। किन्तु श्रीमद्भागवत रस या आनन्दकी प्रधानतासे वस्तुका निरूपण करता है।

सत्य ज्ञानात्मक है, अतः आनन्दात्मक है। सत्य स्वयं सत्य ही है, पर वह जड़ न हो जाय, इसलिए उसे ज्ञान कहना पड़ता है। इसी तरह वह दुःखरूप न हो जाय, इसलिए उसे आनन्द कहना पड़ता है। ज्ञान है, किन्तु क्षणिक है, इस क्षणिकताको मिटानेके लिए उसे सत्य कहना पड़ता है। अतएव श्रुति कहती है : **सत्यं ज्ञानमनन्तं** ब्रह्म।

श्रीमद्भागवतमें दूसरे पुरुषार्थोंका निषेध नहीं है। इसमें स्पष्ट निर्णय दिया है कि हमें किस सीमातक भोग या धर्मका सेवन करना चाहिए :

धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः॥
कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः॥
वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

१.२.९–११

अर्थात् हमारे जीवनमें जो धर्मका विधान है, वह अर्थके लिए नहीं है कि हम धर्म करेंगे तो हमें धन मिलेगा। धर्मानुष्ठान इसीलिए किया जाता है कि हमारे जीवनमें जितने बन्धन हैं, उन सबसे मुक्ति मिले। धर्मका फल अर्थ-बन्धन नहीं, अर्थ-स्वातन्त्र्य है। मनुष्यके जीवमें बिना स्वातन्त्र्यके किसी भी प्रकारके आनन्दका अनुभव नहीं हो सकता।

धर्म अपवर्गके लिए है। 'अपवर्जनम् अपवर्गः'—जो सत्य-तत्त्व है, सर्वाधिष्ठान, स्वयंप्रकाश, सर्वावभासक, प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्रह्म है उसकी अनुभूतिके लिए, अविद्यामूलक बन्धनकी निवृत्तिके लिए धर्मका निरूपण है।

शास्त्रोंमें धनका निरूपण उसका स्वामी बननेके लिए नहीं है कि 'हमारे पास इतना धन है।' श्रीमद्भागवतमें आता है कि सारी सृष्टि भागवत, भगवान्‌की सन्तान है। इस सृष्टिमें जितना भी धन है, प्रभुका ही है :

दिव्यं भौमं चान्तरिक्षं वित्तमच्युतनिर्मितम्।

सबकी सारी सम्पत्ति ईश्वरकी है और समस्त पदार्थ एवं प्राणी भी ईश्वरके हैं। अतः इनका उपभोग करते समय मनुष्य स्वयम्‌को इनका स्वामी न माने :

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥

जितना अपने पेटमें जाता है, वहींतक मनुष्यका स्वत्व है। दूसरी जितनी भी वस्तुएँ पासमें हैं, हम उनके मात्र न्यासी—ट्रस्टी हैं। वह सबके कल्याण, सबके भलेके लिए है। वह हमारी व्यक्तिगत वस्तु नहीं।

स्त्री, पुत्र और परिवारके साथ व्यवहारका आदर्श बतलाते हुए श्रीमद्भागवतमें कहा गया है :

यद् वदन्ति यदिच्छन्ति चानुमोदेत निर्ममः।

अपना हठ अधिक न रखें, नहीं तो बड़ा दुःख होगा। यह चाहना सर्वथा गलत है कि मन हमारा रहे और शरीर दूसरोंका काम करे।

गुरु चाहता है कि शिष्य हमारे संकल्पके अनुसार चले। माता-पिता चाहते हैं कि पुत्र और पुत्रवधू उनकी इच्छाके अनुसार चलें। सास चाहती है कि बहू उसके कहनेके अनुसार चले। पर ऐसा कभी नहीं हो सकता, क्योंकि सबके मन पृथक्-पृथक् हैं। सबके मनके संस्कार अलग-अलग हैं। सब अनादिकालकी वासनाओंसे आक्रान्त होकर चल रहे हैं। जब हम दूसरेके मनको अपने मनके अनुसार चलाना चाहते हैं, तब दूसरेका मन तो हमारे मनके अनुसार चलता नहीं, आग्रह रखनेके कारण हम ही दुःखी हो जाते हैं। अतः ये परिवारके लोग जो कहें, उसे स्वीकार कर लेना चाहिए। इनकी बातोंका अनुमोदन करें। आपकी और इनकी आयु एवं मान्यताओंमें जो अन्तर पड़ गया है, उसे स्वीकार कर ही लेना चाहिए।

जह्याद्यदर्थे स्वः प्राणान् हन्याद् वा पितरं गुरुम्।
तस्यां स्वत्वं स्त्रियां जह्याद्यस्तेन ह्यजितो जितः॥

पत्नीसे मनुष्यकी भारी ममता होती है। उसके लिए मनुष्य अपने प्राण दे देता है। उसके लिए माता-पिता तथा गुरु तकको मार डालता है। ऐसी पत्नीके प्रति भी जिसकी ममता नहीं, उसे भी जो ईश्वरकी समझता है, उसने अजित परमात्माको भी जीत लिया। उसे शान्ति मिलेगी। उसे स्वातन्त्र्य मिलेगा।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें मनुष्यको कैसे रहना चाहिए जिससे उसका शान्ति-स्वातन्त्र्य अक्षुण्ण रहे, उसे परम सत्यकी उपलब्धि हो, इसका स्पष्ट निरूपण करता है। ●

प्रथम स्कन्ध

२ | तीन भागवत नारियाँ

श्रीमद्भागवतके प्रथम स्कन्धमें एक विलक्षण दृश्य उपस्थित होता है। द्रौपदीके पाँच पुत्रोंको सोते समय अश्वत्थामा मार डालता है। उनका सिर काटकर वह अपने स्वामी दुर्योधनके पास लाकर कहता है : 'मैंने पाण्डवोंका सत्यानाश कर-डाला।'

मैंने बचपनमें महात्माओंसे सुना था—अश्वत्थामासे दुर्योधनने पूछा : 'तुम क्या करके आये ?'

अश्वत्थामा : 'युधिष्ठिरादि पांडवोंको मार उनके सिर लाया हूँ।'

दुर्योधन : 'लाओ, देखूँ !'

दुर्योधनने सिर लेकर दबाये तो वे फूट गये। तब दुर्योधन बोला : 'ये युधिष्ठिर, भीम आदिके सिर नहीं हो सकते। तुमने कोई भूल की है।'

जब भूल पकड़ी गयी, तो पता लगा कि यह तो पाण्डव और कौरव, दोनों वंशोंका उन्मूलन हो गया।

सबेरे पता लगनेपर अर्जुनको बड़ा क्रोध आया। श्रीकृष्णके साथ जाकर उन्होंने अश्वत्थामाको पकड़ा और बाँधकर द्रौपदीके सामने ले आये।

श्रीकृष्ण और भीमसेनने भी कहा : 'इसे मार डालो !' लेकिन जिसके पाँच बच्चे मारे गये, उस द्रौपदीको यह सहन नहीं हुआ। वह रोती-रोती बोली : **मुच्यतां मुच्यतामेष**—'इसे छोड़े दो ! जल्दी छोड़े दो।'

यहाँ दो बार 'मुच्यताम्' कहनेका तात्पर्य है, 'मेरा यह पक्का निश्चय है।' वंशका नाश हो गया, पाँचों बच्चे मारे गये, पर द्रौपदी कहती है : 'जैसे मैं अपने बच्चोंके मरनेसे दुःखी हो रही हूँ, वैसे ही इसकी माँ भी न रोये' : **मा रोदीदस्य जननी** ।

अश्वत्थामा बड़ा वीर था या उसकी माता बहुत योग्य थी, इसलिए उसपर द्रौपदीने कृपा की—ऐसी बात नहीं। कृपाके लिए हेतु बतलाना कृपाका महत्त्व कम करना है। द्रौपदीने अपने पुत्रोंके हत्यारे, क्रूर अपराधी और कृपाके सर्वथा अयोग्यपर कृपा की, इसलिए उसपर भगवान् प्रसन्न होते हैं।

इतने बड़े अपराधी और उसकी माताके प्रति इतनी बड़ी सहानुभूति जो द्रौपदीके हृदयमें है, लगता है जैसे भागवत-धर्मका वही प्रथम प्रकाश हो।

सूतजीने द्रौपदीके वचनमें छह गुण बतलाये हैं :

धर्म्यं न्याय्यं सकरुणं निर्व्यलीकं समं महत् ।

जिसके पाँच पुत्रोंका हत्यारा उसके सामने खड़ा है, उसके मुखसे निकलनेवाली वाणीमें घृणा, हिंसा या क्रोधका लेशतक नहीं। वह वाणी धर्म, न्याय और करुणासे परिपूर्ण, निर्दोष और उदार है। अपने बच्चोंकी हत्या भूलकर अपराधीकी माताके साथ द्रौपदी तादात्म्यापन्न हो जाती है।

भगवान् श्रीकृष्ण और युधिष्ठिरने कहा : 'साधु-साधु !' हृदय हो तो द्रौपदी जैसा हो। वस्तुतः द्रौपदीके हृदयमें भगवान्का निवास है।

× × × ×

इसी अश्वत्थामाने उत्तराके गर्भपर ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया। अन्यायकी पराकाष्ठा हो गयी। उत्तरा दौड़ी भगवान् श्रीकृष्णके पास और कहने लगी :

कामं दहतु मामेष मा मे गर्भो निपात्यताम्।

'भले मैं मर जाऊँ, यह ब्रह्मास्त्र मुझे भस्म कर दे; किन्तु मेरे उदरका शिशु नष्ट न हो।'

उत्तरा नहीं कहती कि 'अश्वत्थामाको पकड़ो या मारो।' वह कहती है : 'मेरे गर्भमें यह कौरव एवं पाण्डव-वंशका बीज है। इसकी मृत्यु न हो।' उसकी दृष्टि अश्वत्थामापर नहीं।

श्रीकृष्ण विश्वात्मा हैं। वे किसकी रक्षा करते हैं? द्रौपदीने उनसे पूछा था : 'मेरे बच्चे तुम्हारे स्मरणमें नहीं लगे थे। वे उस समय तुम्हारा नाम नहीं ले रहे थे। वे सोये थे, जब उनकी मृत्यु हुई। कहीं उनकी दुर्गति तो नहीं हुई?'

श्रीकृष्ण : 'भले ही वे सावधान न हों, मैं तो उनका कल्याण करनेको सावधान हूँ।'

उत्तराने कहा : 'मेरे गर्भकी मृत्यु न हो।'

कृष्ण : 'उत्तरा ! तुम अपने गर्भकी चिन्ता मत करो। मैं उसकी रक्षा करता हूँ।'

यहाँ भागवत-धर्मका विचार करें :

अञ्जः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान्।

द्रौपदीके पुत्र मरे तो क्या वे समाधिमें थे? क्या वे कोई साधना कर रहे थे? क्या उन्हें तत्त्वज्ञान हो चुका था? वे घोर निद्रामें सोये थे। ऐसी घोर निद्रामें सोये जनोंके प्रति भी जो भगवान्‌का कारुण्य है, इसे भागवत-धर्म कहते हैं।

गर्भस्थ शिशु—जिसके हाथ-पैर बँधे हैं, जिसे पता नहीं कि हमें जलानेवाला कौन है, उसकी माताके पुकारनेपर गर्भमें प्रवेश करके भगवान्‌ने रक्षा की।

श्रीमद्भागवतमें यह बतलाया गया है कि भगवान् जीवोंपर किस प्रकार अपनी कृपा, पुष्टि, भक्ति बरसा रहे हैं। जहाँ मनुष्यकी कुछ नहीं चलती, वहाँ भी भगवान्‌की करुणा आती है। अतः जीवनमें कभी निराश नहीं होना चाहिए।

वाल्मीकीय-रामायणमें एक ऋक्ष-व्याघ्र-संवाद आता है। भगवान् श्रीरामने लंकापर विजय प्राप्त की। रावण मारा गया। हनुमान् जानकीजीको लेने गये। वहाँ श्री जानकीजीको रघुनाथजी-का कुशल-समाचार सुनानेके बाद हनुमान्‌जीने कहा : इस राक्षसियोंने आपको बहुत दुःख दिया है। आज्ञा करें तो मैं इन्हें कुचल डालूँ।'

श्री जानकीजीने हनुमान्‌को ऋक्ष-व्याघ्र-संवाद सुनाते हुए कहा : 'एक मनुष्य कहीं वनमें भटक गया था। बाघने उसे खदेड़ा। प्राण बचानेके लिए वह जिस वृक्ष पर चढ़ा, उस पर एक रीछ पहलेसे बैठा था। रीछने उस मनुष्यको शरणमें ले लिया। रात्रिका समय था। बाघ पेड़के नीचे बैठ गया।

रीछने मनुष्यसे कहा : 'हम दोनों बारी-बारीसे जागें। इससे नींदमें कोई नीचे नहीं गिरेगा और दोनोंको पूरी रात जागना भी न पड़ेगा।'

मनुष्यने रीछकी बात मान ली। वह रीछकी गोदमें सिर रखकर सो गया। तब बाघने रीछसे कहा : 'यह बहुत ही अविश्वसनीय प्राणी है। तुम्हें धोखा देगा। इसे नीचे धकेल दो, तो मैं इससे अपनी भूख मिटाकर चला जाऊँ।'

रीछ : 'नहीं, शरणागतके साथ कभी विश्वासघात न करूँगा।'

आधी रातके बाद रीछने मनुष्यको जगा दिया और स्वयं उसकी गोदमें सिर रखकर सो गया। अब बाघने मनुष्यसे कहा : 'अभी तो यह मेरे भयसे तुमसे मित्रता किये है। मेरे चले जानेपर तुम्हें खा डालेगा। इसे नीचे धकेल दो।'

मनुष्यने रीछको धकेल दिया; किन्तु रीछ डाल पकड़कर बच गया। बाघने रीछसे कहा : 'देख लिया न कैसा प्राणी है ? अब तो इसे नीचे गिरा दो।'

रीछ : 'संसारमें ऐसा कोई प्राणी नहीं जिसमें कोई-न-कोई दुर्बलता न हो।'

पापानां वा शुभानां व वधार्हानामपि क्वचित्।
कार्यं कारुण्यमार्गेण न कश्चिन्नापराध्यति॥

संसारमें बड़े-बड़े पापी, बड़े-बड़े पुण्यात्मा और वध करने योग्य लोग भी होते हैं; किन्तु श्रेष्ठ प्राणीका धर्म है कि वह प्रत्येक दशामें सबपर करुणा ही करे; क्योंकि सर्वथा निर्दोष कोई नहीं होता।

यह कथा सुनाकर श्री जानकीजीने कहा : 'इन राक्षसियोंका क्या दोष ? इन्होंने जो कुछ किया है, पराधीन होकर रावणके आदेशसे किया है।' अपनेको सतानेवालियोंके प्रति यह करुणा !

वाल्मीकीय-रामायण बाइबिलसे बहुत पुरानी है। आप इसका यह वचन न कश्चिन्नापराध्यति—'संसारमें ऐसा कोई नहीं

जिससे अपराध न हुआ हो', बाइबिलके इस वचनसे मिलाइये : 'दुनियामें कौन चोर नहीं है ? अपराधीको पहला पत्थर वह मारे, जिससे कभी कोई अपराध ही न हुआ हो।'

इससे भी उत्कृष्ट करुणा द्रौपदी तथा उत्तरामें है। अपने पुत्रोंको मारनेवाले, अपने गर्भस्थ शिशुपर ब्रह्मास्त्र चलानेवालेपर भी उनमें करुणा विद्यमान है। श्रीमद्भागवतकी प्रवृत्ति इसी करुणासे हुई है। देखें :

- भगवान् नारायणने करुणा करके ब्रह्माको भागवत सुनाया।

ब्रह्मणे नाभिपङ्कजे स्थिताय भवभीताय
कारुण्यात् संप्रकाशितम्।

- ब्रह्माजीने करुणा करके नारदको भागवत सुनाया।
- देवर्षि नारदने करुणा करके व्यासको भागवत सुनाया।
- व्यासने करुणा करके शुकदेवादिको भागवत पढ़ाया।
- शुकदेवजीने करुणा करके राजा परीक्षित्को भागवत सुनाया।

× × × ×

प्रथम स्कन्धमें विलक्षण प्रसंग है पाण्डवोंकी माता कुन्तीका। जब भगवान् श्रीकृष्ण इन्द्रप्रस्थसे द्वारिकाको प्रस्थान करने लगे तो कुन्तीने आकर उनकी स्तुति की और भगवान् श्रीकृष्णसे ऐसा वरदान माँगा, जो भागवत-धर्मकी अद्भुत विशेषता है।

जहाँ लोग ऐश्वर्य और सम्पत्तिके पीछे मरे जा रहे हैं, वहाँ कुन्ती कहती हैं :

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत् स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥ १.८.२५

'जगद्गुरो श्रीकृष्ण ! हमारे जीवनमें बार-बार विपत्तियाँ आयें, लगातार विपत्तिपर विपत्ति आती रहे !'

श्रीकृष्ण : 'बुआजी, कैसी उलटी बातें कर रही हैं ? संसारमें तो ऐसा कोई नहीं चाहता।'

कुन्ती : 'जब-जब हमपर विपत्ति आती है, तब-तब उससे रक्षा करनेके लिए विपत्तिके पीछे लगे तुम आते हो। जब हमें लाक्षागृहमें जलाया जाता है, जब मेरे पुत्रोंको विष दिया जाता है, जब मेरी पुत्रवधूको नग्न करनेका कुप्रयास होता है—उस समय, विपत्तिकी कठोरसे कठोर दशामें भी मुझे दीखता है कि तुम हमारे रक्षकके रूपमें हमारे बीच विद्यमान हो। वह विपत्ति हमारे लिए सैकड़ों सम्पत्तिसे बढ़कर हो जाती है, जिसमें तुम्हारा दर्शन होता है।'

मनुष्य-जीवनके लिए यह बहुत बड़ी उपलब्धि है; क्योंकि सम्पत्तिको सदा बनाये रखना मनुष्यके हाथमें नहीं। यदि पूर्वजन्मको मानें तो उसमें कुछ पूर्वजन्मके कर्मोंका फल होता है, कुछ ईश्वरेच्छा, कुछ तत्कालीन परिस्थिति, कुछ प्रकृतिका परिणाम तो कुछ अपनी मानसिक दशा। किसी एक बातसे मनुष्य सुखी या दुःखी नहीं होता। ऐसा कोई मनुष्य विश्वमें नहीं जिसके जीवनमें दुःख न आये। श्रीमद्भागवतमें यहाँतक कह दिया है कि 'जो लोग अपनेको बहुत बुद्धिमान् मानते और दावा करते हैं कि हम अपने जीवनमें दुःख नहीं आने देंगे—हमारे जीवनमें सुख ही सुख रहेगा'—

यदि प्राप्तिं विघातञ्च जानन्ति सुख-दुःखयोः।
तेऽप्यद्धा न विदुर्योगं मृत्युर्न प्रभवेद्यथा॥

जो सुख-दुःखकी प्राप्ति और विघातका उपाय जानते भी हैं, वे भी वह उपाय नहीं जानते, जिससे जीवनमें मृत्यु ही न आये।'

ऐसी स्थितिमें जो वस्तु हमारे बिना चाहे—बिना प्रयत्नके आती है, संयम रखनेपर भी आती है, उसीका नाम है विपत्ति,

उसीका नाम है दुःख, उसीको कहते हैं प्रतिकूल परिस्थिति। उस परिस्थितिमें हमारे पास कोई बड़ा सम्बल रहे—कोई ऐसा अक्षय खजाना रहे, कोई ऐसा रक्षक रहे अदृश्य रूपसे हमारे पास, जो बड़ीसे बड़ी विपत्तिमें भी हमारा साथ न छोड़े, हमें आश्वासन दे, शान्त रखे और सुख दे। ऐसी वस्तु यदि मनुष्य-जीवनमें कोई हो सकती है, तो वह भागवत-धर्म है

कुन्तीने कहा : 'विपत्तिमें तो हमें आपका दर्शन होता है।'

वस्तुतः जिसे विपत्तिमें भगवान्‌का दर्शन हो उसके सुख, उसकी शान्तिको विश्वमें कोई भी छीन नहीं सकता। भगवान्‌का दर्शन विपत्तिमें होना सरल है; क्योंकि भगवान् तो विपत्तिमें भी रहते ही हैं। इसका अर्थ हुआ कि हमारा मन, तन और जीवन एक ऐसी अनन्त-सत्ताके साथ सम्बद्ध हो जाना चाहिए, एक ऐसे अनन्त-ज्ञानके साथ उनका सम्बन्ध हो जाना चाहिए, एक ऐसे अनन्त-अखण्ड आनन्दके साथ वे जुड़ जाने चाहिए, जो विपत्ति और मृत्युमें भी हमारा परित्याग न करे। ऐसी वस्तुका नाम है, भगवान्। उस भगवान्‌को जिसने अपने हृदयमें धारण कर लिया, वह हो गया भागवत। अर्थात् मनुष्य-जीवनकी समग्र विपत्तियों, दुःखों, अशान्तियों और मृत्युका यह रामबाण औषध है कि हमारे जीवनमें भागवत-धर्मका उदय हो।

कुन्ती मोक्षकामा हैं। वे कहती हैं : 'मेरा स्नेहका बन्धन मेरे मायकेमें भी है और ससुरालमें भी' :

स्नेहपाशमिमं छिन्धि दृढं पाण्डुषु वृष्णिषु।

'प्रभो ! इस स्नेहके बन्धनको काट दो।' कुन्तीको निश्चय है कि श्रीकृष्णके दर्शनसे मोक्ष–प्राप्ति होती है। वह उन्हें अपुनर्भव-दर्शनम् कहती हैं।

४ ‖ तीन महाभागवत

श्रीमद्भागवतके प्रथम स्कन्धमें ही महाभागवत भीष्म पितामहका विलक्षण प्रसंग है।

भीष्म पितामह शर-शय्यापर पड़े हैं। मनुष्य जीवनमें घायल भी होता है और रुग्ण भी। ऐसी पीड़ाका समय भी मनुष्य-जीवनमें आता है, जब लगे कि पूरे शरीरमें बाण चुभ रहे हैं। यह केवल भीष्मकी बात नहीं। जो भी शरीरधारी है, उसके जीवनमें ऐसी परिस्थिति आती है और आ सकती है। अब भागवत-धर्मकी विशेषता देखें।

बाणोंकी शय्यापर भीष्म पड़े हैं। आप यह कल्पना न कर लें कि जैसे किसी मेलेमें जानेपर वहाँ काँटे बिछाकर उसपर सोये कई लोग दीखते हैं, वैसे ही भीष्म पितामह भी सो रहे होंगे। काँटोंपर सोनेमें तो कितनी बुद्धिकी बात होती है, कितना ढोंग-दिखावा होता है, यह लोगोंको पता नहीं। भीष्म पितामह पीठकी ओरसे लगे बाणोंपर सोये नहीं थे। उनकी पीठमें बाण नहीं मारे गये थे। उनकी छाती, पेट, हाथ, पैरोंमें बाण मारे गये थे और सामनेसे मारे गये थे। बाणोंने उनके शरीरका छेदन-भेदन कर दिया था। वे अपनी इच्छाके बिना मर नहीं सकते थे। अभीतक उनके मनमें मरनेकी इच्छाका उदय नहीं हुआ था। सीधे शत्रुओंकी ओर मुख किये ही वे पीछेकी ओर गिरे और उनके शरीरमें घुसे बाणोंकी

नोक पृथ्वीमें जाकर लगी। उन्हीं बाणोंकी शय्या बन गयी और उसीपर भीष्म पितामह पड़े थे।

गिरनेपर भीष्म पितामहका सिर लटक गया, तो उन्होंने कहा : 'मुझे तकिया चाहिए।'

दुर्योधन, कर्ण आदि बहुत नरम-नरम तकिये ले आये। भीष्मने उन्हें झिड़क दिया और पार्थ अर्जुनको बुलवाकर कहा : 'मुझे तकिया दो।'

अर्जुनने उनके सिरमें बाण मारा तो उसपर उनका सिर टिक गया। ऐसे थे महावीर भीष्म पितामह!

महाभारतमें आया है कि एक दिन राजा युधिष्ठिर बहुत सबेरे श्रीकृष्णके शिविरमें गये, तो देखते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण अपने पलंगपर बैठे ध्यान कर रहे हैं। श्रीकृष्ण जगे तो युधिष्ठिरने प्रणामकर उनसे पूछा : 'आप क्या कर रहे थे?'

श्रीकृष्ण : 'मैं ध्यान कर रहा था।'

युधिष्ठिर : 'किसका ध्यान कर रहे थे?'

कृष्ण : 'भीष्मका, क्योंकि वे मेरा ध्यान कर रहे हैं।'

जैसे भक्त भगवान्का ध्यान करता है, वैसे ही भगवान् भी भक्तका ध्यान करते हैं। ध्यान करते समय श्रीकृष्णका सारा शरीर रोमाञ्चित था। उनके नेत्रोंसे आँसू झर रहे थे। कण्ठ गद्गद हो रहा था।

वस्तुतः मानवके भीतर जितनी दिव्य विभूतियाँ—जितने सद्गुण छिपे हैं, उन्हें प्रकट करनेवाला, रूप देनेवाला यह भागवत-धर्म ही है। जब जीव भगवान्के ध्यानमें मग्न हो जाता है, तब भगवान् भी उस भक्त जीवके ध्यानमें मग्न हो जाते हैं।

यह बात आपके जीवनमें, अनुभवमें आने योग्य है। आपके जीवनमें इस समय भी चाहे जितना दुःख हो—पराजय या पैसेका दुःख हो, घरका कलह हो, रोग हो, मृत्युका भय हो, तो एक मिनटके लिए भगवान्‌का ध्यान कीजिये। इस जगत्‌से नाता तोड़ दिव्य-जगत्‌से मनका नाता जोड़ लीजिये। 'आपके हृदयमें खड़े-खड़े मुरली-मनोहर, पीताम्बरधारी, श्यामसुन्दर, साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण मन्द-मन्द मुस्करा रहे हैं', केवल एक मिनट इसका चिन्तन कीजिये। दावेके साथ कहता हूँ कि उस एक मिनटतक आपके हृदयमें कोई दुःख नहीं रहेगा। इस तरह जब आप एक मिनटतक हृदयसे दुःख भगानेका उपाय जानते हैं, तो पूरे पाँच मिनट या पाँच घंटेके लिए भी उसे भगा सकते हैं।

मनको भगवान्‌के चरणोंमें लगाइये! मनमें वैराग्य न हो और कोई करोड़ बार भी 'नेति नेति' का जप करे, अद्वैत-वेदान्तका रहस्य जानता हो, तो भी उसका दुःख दूर न होगा। 'नेति नेति' कोई मन्त्र या जादूकी लकड़ी नहीं। जब विरक्त-हृदयमें दृश्यमान प्रपञ्चका निषेध होता है, तभी वह दुःखसे छुटकारा पाता और सुख-स्वरूपका साक्षात्कार करता है। यह होता है प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्वके ज्ञानसे। लेकिन आप पाँच मिनटके लिए भगवान्‌का नाम लीजिये, भगवान्‌का स्मरण कीजिये। आपके हृदयमें भरे संसारको निकाल फेंकनेवाला, आपके हृदयमें परिवर्तन लानेवाला कोई पदार्थ है तो वह भगवान्‌का स्मरण ही है। इसीको कहते हैं, भागवत-धर्म।

> विपदो नैव विपदः सम्पदो नैव सम्पदः।
> विपद् विस्मरणं विष्णोः सम्पन्नारायणस्मृतिः॥

'विपत्ति विपत्ति ही नहीं है और न सम्पत्ति ही सम्पत्ति है। सर्वव्यापी, सर्वकारण-कारण, जगत्के अभिन्न-निमित्तोपादान भगवान्से दृष्टि हट जाना, उनका स्मरण छूट जाना विपत्ति ही विपत्ति है और उनका स्मरण होना है, परम सम्पत्ति।

श्रीकृष्णने युधिष्ठिरसे कहा : 'धर्म, उपासना, व्यवहार और राजनीतिका ज्ञान तथा ब्रह्मज्ञान जो संसारमें दूसरे किसीके पास नहीं है, वह भीष्म पितामहके पास है। युधिष्ठिर! चलो, उनसे कुछ सीख लो।'

श्रीकृष्णके साथ पाण्डव युद्धभूमिमें पड़े भीष्म पितामहके पास जाते हैं। युधिष्ठिर भीष्मसे पूछते और भीष्म उन्हें बतलाते हैं कि अन्त:करणके कितने भेद-प्रभेद होते हैं और उन-उन भेद-प्रभेदोंके अधिकारियोंके लिए कौन-कौन-सा धर्म उपयोगी होता है।'

आचार्य-भेदसे धर्मानुष्ठानमें भेद नहीं होना चाहिए। भागवत-धर्मका सिद्धान्त है कि आचार्य-भेदसे धर्माचरणमें भेद नहीं होता। धर्मानुष्ठान करनेवालेके अन्त:करणकी योग्यताकी दृष्टिसे धर्ममें भेद होना चाहिए। इसे 'अधिकार्य-भेद' कहते हैं।

वैराग्य - रागोपाधिभ्यामाम्नातोऽभयलक्षणान्। १.९.२६

जिसके अन्त:करणमें वैराग्य है, उसके लिए दूसरे प्रकारका धर्म है और जिसके अन्त:करणमें राग है, उसके लिए दूसरे प्रकारका। अन्त:करणकी स्थितिके अनुसार जब साधन होता है, तभी वह शीघ्र सिद्ध हो पाता है। कई साधन ऐसे होते हैं कि यदि वे अधिकारीके अन्त:करणके साथ ठीक-ठीक बैठ जायँ, तो क्षणभरमें सिद्ध हो जायँ।

वे लोग मारे जाते हैं जो केवल द्रव्यको साधन समझते हैं, जो केवल क्रियाको साधन समझते हैं और वे भी मारे जाते हैं जो केवल

अपने मनोभावको साधन समझते हैं। कारण मनोभाव बदलते रहते हैं, क्रिया बाह्यरूपसे कोई महत्त्व नहीं रखती और वस्तुका आध्यात्मिक क्षेत्रमें कोई महत्त्व नहीं। ऐसी स्थितिमें अन्त:करणमें कैसे संस्कार हैं, कैसी वासना है, कैसी इच्छा है, यह अधिकारी क्या चाहता है, अर्थी कैसा है, इसकी सामर्थ्य क्या है—यही देखना होगा।

अर्थी समर्थो विद्वान् शास्त्रेणापर्युदस्तात्।

अधिकारीको सचमुच चाहनेवाला होना चाहिए। क्या वह सचमुच ईश्वर चाहता है? फिर वह जिस वस्तुको सचमुच चाहे, क्या उसके अनुभवकी सामर्थ्य, वृत्तिका परिपाक उसके अन्तकरणमें है? जो बात कही जाती है, उसे वह समझ पाता है या नहीं? कहीं वह निषिद्ध अधिकारी तो नहीं है? इन बातोंको ध्यानमें रखकर ही मनुष्यके लिए धर्मका उपदेश होता है। भीष्म पितामहने इसी प्रकार धर्मका उपदेश युधिष्ठिरको किया।

भीष्म पितामहके सामने जब भगवान् श्रीकृष्ण उपस्थित हुए तो मन ही मन उन्होंने भगवान्‌की पूजा की। उनको भूल गया कि शरीरमें सैकड़ों बाण लगे हैं। बोले: 'श्रीकृष्ण! भक्तोंसे तुमने बहुत-बहुत प्रतीक्षा करायी है। भक्त तुम्हारे दर्शनकी प्रतीक्षा करते ही रहते हैं। लेकिन आज तुम ही मेरी प्रतीक्षा करो।

स देवदेवो भगवान् प्रतीक्षतां कलेवरं यावदिदं हिनोम्यहम्।
१.९.२४

मैं मरूँगा; किन्तु जबतक मर न जाऊँ, मेरे सामने चतुर्भुज रूपमें तुम खड़े रहो। तुम्हारे मुखपर मधुर मुस्कान बनी रहे। नेत्रोंमें प्रेमभरी चितवन रहे और तुम्हारा पीताम्बर फहराता रहे।'

भागवत-धर्मकी यह अद्भुत सामर्थ्य है, जो भगवान्‌को भी प्रतीक्षा करनेके लिए बाध्य कर देता है !

मरते समय भक्त भगवान्‌का ध्यान नहीं कर पाता तो भगवान् उसका ध्यान करते हैं, भक्त भगवान्‌के पास नहीं पहुँच पाता तो भगवान् उसके पास पहुँच जाते हैं और भक्त भगवान्‌की प्रतीक्षा नहीं कर पाता तो भगवान् उसकी प्रतीक्षा करते हैं।

यहाँ मृत्यु तो भीष्म पितामहके बाहरी जीवनमें है। उनके अन्तर्जीवनमें मृत्यु नहीं, विपत्ति नहीं। वहाँ तो स्फुरित हो रहा है :

तमिममहमजं शरीरभाजां हृदि हृदि धिष्ठितमात्मकल्पितानाम्।
प्रतिदृशमिव नैकधार्कमेकं समधिगतोऽस्मि विधूतभेदमोहः ॥
१.९.४२

'यह जो हमारे सामने खड़ा है, यह अजन्मा है। यह केवल नेत्रोंके सामने खड़ा नहीं है, परमात्मामें कल्पित जितने अन्तःकरण हैं, उन सब अन्तःकरणोंमें यही एक अद्वितीय रूपसे विद्यमान है। मैं भेद-भ्रमसे मुक्त होकर इसका अनुभव कर रहा हूँ।'

मनुष्य-जीवनके लिए क्या यह आवश्यक नहीं मालूम पड़ता कि आप सम्पत्ति-विपत्ति, रोग-स्वास्थ्य, वियोग-संयोग, विक्षेप-समाधि, जीवन-मरण या सुख-दुःखमें एक ऐसी वस्तु प्राप्त कर लें जो सब जगह, सब समय और सब रूपोंमें आपके हृदयमें आपका आलम्बन बनी रहे ? यदि ऐसा नहीं चाहते तो आप ठीक वैसे ही हैं, जैसे कोई अपने हाथों अपने पैरोंपर कुल्हाड़ी मार ले। इस तरह आप अपने जीवनका एक सत्य, एक आनन्द, जीवनका एक गम्भीर संस्कार अपनेसे दूर कर देते हैं।

जीवनमें कितनी ही पीड़ा, कितने ही दुःखोंमें भी वह आलम्बन व्यक्तिको निश्चिन्त और प्रसन्न कर सकता है, यह भीष्मका उज्ज्वल चरित बतलाता है।

× × ×

मनुष्यके जीवनमें जितनी परिस्थितियाँ आती हैं, सबमें भागवत-धर्म हमें सुखी रखता है, यह बात श्रीमद्भागवतके प्रथम स्कन्धसे ही प्रारम्भ हो गयी है।

सम्पत्ति हो या विपत्ति, लौकिक दृष्टिसे सुख हो या दुःख, मनुष्यका मन यदि भगवान्में, पूर्णतामें डुबा रहे, लगा रहे तो उसे सुख-सम्पत्तिका अभिमान नहीं होता और न दुःखकी ग्लानि ही होती है। ऐसा भी देखनेमें आता है कि जीवनमें बड़े-बड़े दुःख आते हैं, पर भागवत-धर्मानुसार जीवन व्यतीत करनेवाला उसमें भी मोहित नहीं होता।

परिस्थितियाँ रोकी नहीं जा सकतीं; पर अपने मनको ऐसा बनाया जा सकता है कि किसी भी परिस्थितिमें सुखी रहें।

महाराज युधिष्ठिरका चरित देखिये। उनके पास विपुल सम्पत्ति थीं। वे चक्रवर्ती सम्राट् थे। उनके महाशूर तथा अनुगत भाई थे। पत्नियाँ थीं। उन्होंने बड़े-बड़े यज्ञ-याग किये। लोक-परलोकका सारा वैभव उन्हें सुलभ रहा। वे अपने जीवनमें पूर्ण सुखी थे।

प्रश्न होता है कि राजा युधिष्ठिर जो अपने जीवनमें सुखी थे, वह क्या सम्पत्तिके कारण, राज्यके कारण, ऐश्वर्यके कारण या भोग-विलासके कारण ?

श्रीमद्भागवत तो यही बतलाता है कि सब कुछ होनेपर भी वे अपनेको सुखी नहीं मानते थे।

अधिजह्रुर्मुदं राज्ञः क्षुधितस्य यथेतरे। १.१२.६

जैसे कोई मनुष्य भूखा-प्यासा हो तो उसके पास भले ही कितनी भी सम्पत्ति हो, राज्य हो, भाई हों, सेना हो उसे आनन्द ऐश्वर्य-सम्पत्तिसे नहीं, अन्न और जलसे ही मिलेगा। कोई कितनी भी ऊँची कुर्सीपर बैठा हो और उसे कितना भी चन्दन-अक्षत लगाओ; पर यदि भूखेको अन्न या प्यासेको पानी न मिले तो वह ऐश्वर्य किस कामका ?

तो जैसे मनुष्य-जीवनमें भूख लगनेपर अन्न और प्यास लगनेपर पानीकी आवश्यकता होती है, वैसे ही राजा युधिष्ठिरके जीवनमें ईश्वरकी आवश्यकता थी। वे मानो श्रीकृष्णके प्यासे थे, श्रीकृष्णके भूखे थे। भगवान्‌के स्मरण बिना उनका एक क्षण भी व्यतीत नहीं होता था और वे संसारकी किसी भी वस्तुको प्राप्तकर सुखी नहीं होते थे।

× × ×

भागवत-धर्म किसीके भी अस्तित्वका नाश नहीं करता। भागवतके प्रथम स्कन्धमें ही कथा है : कलियुग आया। वह धर्मको भारी पीड़ा दे रहा था। वृषभरूप धर्मके तीन पैर उसने उखाड़ डाले। केवल एक पैर शेष था। पृथ्वीरूपी गौ बेचारी भूखों मर रही थी। उसे कोई पोषण नहीं मिल रहा था। कलियुग राजाका वेष धारणकर धर्म और पृथ्वीको लात मारे जा रहा था।

उचित यही था कि राजा परीक्षित् कलियुगको नष्ट कर देते; किन्तु वे भागवत हैं, काल-धर्मके महत्त्वको भी समझते हैं। जब

कलियुग उनकी शरण आया, तो उसे भी उन्होंने स्वीकृति दी : 'अच्छा, तुम भी रहो। तुम्हारे भीतर भी कुछ गुण हैं।'

श्रीमद्भागवतका कहना है : 'ऐसा कोई भी पदार्थ या ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं, जिसमें कोई न कोई योग्यता न हो। अतः किसीका अनादर मत करो। उसकी योग्यताका लाभ उठाओ।'

सारङ्ग इव सारभृत्—'जैसे हंस पानीमेंसे दूध निकाल पी लेता है, जैसे भ्रमर पुष्पसे रस निकालकर चख लेता है, वैसे ही भक्त लोगोंमें गुण देख उसीको ग्रहण कर लेता और दोष छोड़ देता है।

राजा परीक्षित्के जीवनकी एक और सबसे महत्त्वकी बात है और वह है, उनको शाप मिलनेका प्रसंग। श्रीमद्भागवतमें शापके अनेक प्रसंग आते हैं। आजकलके लोगोंको कोई गाली दे दे, निन्दा कर दे या अपमान कर दे, तो दिनभर उनके हृदयमें वह चुभता रहेगा। लेकिन वे उसे शाप नहीं मानते। कोई शाप या वरदान क्या देगा ? लेकिन एक मनुष्य एक बात मुखसे निकालकर चला गया, आप उसकी चुभन कलेजेमें दिनभर अनुभव करते हैं, तो यही शाप है। यह अलग बात है कि वह शक्तिहीन है, अतः उसका वह शाप थोड़ी ही देर आपको दुःख देकर रह जाता है। किन्तु तपस्वी, शक्तिशाली महापुरुषोंके शाप, उनके द्वारा की गयी निन्दा या गाली चिरकाल तकके लिए लगती है और सत्य भी हो जाती है।

प्रश्न यह है कि शब्द लगता है या नहीं ? 'उत्तर-रामचरित'के प्रारम्भमें भवभूतिने कहा है : 'संसारमें ऐसे साधारण कवि तो बहुत होते हैं, जो संसारकी वस्तुओंको देख-देखकर वर्णन

करते हैं। पहले उनके हृदयमें वस्तु आती है, फिर बोलते हैं; किन्तु जो सच्चे ऋषि होते हैं, वे कुछ बोलते हैं, तो संसार वैसा ही बनता जाता है।'

ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति।

'महापुरुष जो बोलते हैं, अर्थ उनकी वाणीका अनुगमन करता है।'

यहाँ राजा परीक्षित्के शाप और दूसरे शापोंमें जो अन्तर है, वह देखने योग्य है।

मनुके पुत्रोंमें एकका नाम था 'पृषध्र'। गुरुदेवके पास रहकर वह उनकी गायें चराता। सप्तद्वीपवती पृथ्वीके एकच्छत्र सम्राट् मनु और उनका पुत्र गुरुकुलमें रहकर गुरुकी गायें चराये! बचपनमें मुझे यह बात जँचती नहीं थी। उन्हीं दिनों मैंने सुना: 'ब्रिटेनके युवराज आजकल जहाजमें कुलीके समान कोयले झोंक रहे हैं।' कारण राजकुमारको केवल भोग-विलासका अभ्यासी नहीं होना चाहिए। वह परिवारके ही मोहमें न फँसा रहे। उसे परिवारसे पृथक् रखना, मोहमुक्त, निष्पक्ष, परिश्रमी और सेवक भी बनाना आवश्यक होता है।

एक दिन मनुपुत्र पृषध्रसे असावधानी हुई। उसने तलवार चलायी तो अँधेरेमें बाघपर; किन्तु लग गयी गायको। गुरुदेवने कहा: 'जाओ, शूद्र हो जाओ।'

शापसे वह प्रसन्न हुआ। बोला: 'यह तो मुझपर गुरुदेवने कृपा की है। इन्होंने मुझे राज्यसे च्युत कर दिया, विवाह करनेसे बचा दिया। माता-पिता मुझे अब पुत्रके रूपमें नहीं देखेंगे। अब तो भगवान्में ही लगना है।'

उसे तत्त्वज्ञान हो गया। वह शूद्र नहीं, ब्रह्मज्ञानी महात्मा बन गया।

× × ×

एक राजा थे सौदास। उनके घरमें उनका शत्रु रसोइया बनकर रहता। जब राजाने महर्षि वशिष्ठको आमन्त्रित किया तो उस शत्रुने ऋषिको मांस परस दिया। इससे वशिष्ठ आगबबूला हो उठे। उन्होंने राजाको शाप दिया: 'तूने चाण्डालोंका खाद्य मेरे सामने रख दिया, अतः तू चाण्डाल हो जा।'

राजाने कहा: 'गुरुदेव! मेरा कोई दोष नहीं। मैं तो केवल भोजन परस रहा था। आपने मुझे शाप क्यों दिया? मैं भी आपको शाप दूँगा।'

राजाने शाप देनेके लिए जल लिया तो उसकी रानीने हाथ पकड़ लिया। बोली: 'ये गुरुदेव हैं। इन्होंने भले ही शाप दिया, पर तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए।'

राजाने शापका वह जल अपने पैरोंपर डाल लिया। इससे उसके पैर काले हो गये! उसका नाम 'कल्माषपाद' पड़ गया। महर्षि वशिष्ठकी कृपासे ही आगे उसका वंश चला।

× × ×

राजा निमिने अपने कुल-पुरोहित वशिष्ठजीसे कहा: 'मेरा यज्ञ आप करा दें।'

वशिष्ठ: 'मैं इन्द्रके सत्रमें जानेका उन्हें पहले ही वचन दे चुका हूँ। वहाँसे लौटूँगा, तब तुम्हारा यज्ञ करा दूँगा।'

निमिके मनमें यह भ्रम हो गया कि 'गुरुजी लालची हैं। मैं मर्त्यलोकका राजा और इन्द्र स्वर्गका राजा। उसके यहाँ दान-दक्षिणा अधिक मिलेगी, इसलिए गुरुजी मुझे छोड़कर वहाँ चले गये।' साथ ही यह भी ध्यानमें आया कि 'जबतक गुरुजी लौटकर आयें, तबतक मैं जीवित रहूँ या न रहूँ। यज्ञ करनेकी शक्ति मेरे पास रहे या न रहे।' अतः निमिने दूसरेको पुरोहित बनाकर यज्ञ प्रारम्भ कर दिया।

वशिष्ठ लौटे तो निमिको दूसरे पुरोहितसे यज्ञ करवाते देखकर बड़े क्रुद्ध हो उठे। बोले : 'तुम्हें यही भ्रम था न कि मैं कहीं बीचमें ही न मर जाऊँ? तो लो, मर जाओ।'

निमिने मरनेसे पहले कहा : 'गुरुदेव! आपको भी मैं शाप देता हूँ कि मैं मरता हूँ तो आप भी मर जायँ।'

दोनों मर गये। मित्रावरुणसे वशिष्ठका पुनर्जन्म हुआ, पर निमिने फिरसे शरीरधारण स्वीकार नहीं किया। भगवान्‌की यह लीला इक्ष्वाकु-वंशसे निमि-वंशको पृथक् करनेके लिए थी, जिससे निमि-वंश विदेह बने और आगे जाकर इसी वंशमें सीताजीका प्राकट्य हो।

× × ×

श्रीकृष्णके पुत्र-पौत्रोंने साम्बको स्त्री-वेषमें सजाया और उसे लेकर महात्माओंके पास जाकर पूछा : 'इसके बेटी होगी या बेटा?'

भगवन्मतकोविदाः—वे महात्मा जानते थे कि भगवान् क्या चाहते हैं। अतः उन्होंने शाप दे दिया : 'यह यदुवंशको नष्ट करने-वाला मूसल उत्पन्न करेगा।'

× × ×

लोग दुर्वासापर बहुत अप्रसन्न रहते हैं। जिसे देखो, उसीको ये शाप दे देते हैं। किन्तु एक बात ध्यानमें रखिये कि दुर्वासाजी भागवत हैं, भागवत-धर्मके ज्ञाता हैं। वे शिवांश हैं। स्वयंको बदनाम करते हैं, गाली सुनते हैं, सदाके लिए अपना इतिहास काला करते हैं; पर भगवान्‌की भक्त-वत्सलता तथा भक्तकी दृढ़ता संसारमें प्रसिद्ध करते हैं। भगवान् अपने भक्तपर कैसी कृपा करते हैं, भक्तकी कैसे रक्षा करते हैं और भक्त कितने दृढ़ होते हैं, यह भक्तिका—भागवत-धर्मका माहात्म्य संसारमें प्रसिद्ध करनेके लिए उन्होंने अम्बरीषपर कृत्याका प्रयोग किया।

× × ×

मुख्य प्रसंग राजा परीक्षित्‌का है। वे आखेटको निकले थे। एक महात्माके आश्रममें पहुँचनेपर देखा कि वे समाधिमें बैठे हैं। राजाको विश्वास नहीं हुआ।

वास्तवमें भागवत-धर्म श्रद्धा-विश्वासके बलपर चलता है। आज विश्वमें धार्मिक, दार्शनिक, संस्कृतिके प्रधान विद्वान् माने जाते हैं महामहोपाध्याय डाक्टर गोपनाथ कविराज। वे कहते हैं: 'भगवान्‌के दर्शन, तत्त्वज्ञान या आत्मसाक्षात्कारके पूर्व मनुष्यको जो कुछ बतलाया जायगा, उसपर उसे श्रद्धा करके ही चलना होगा। उसपर वह श्रद्धा-विश्वास नहीं करेगा, तो मनुष्यका कल्याण कैसे होगा?'

राजा परीक्षित्‌ने सन्देह किया :

मृषासमाधिराहोस्वित् किं नु स्यात् क्षत्रबन्धुभिः।

१.१८.३१

"मुझे इन अधम क्षत्रियोंसे क्या लेना-देना!' ऐसा सोचकर कहीं ये झूठी समाधि लगाये तो नहीं बैठे हैं?'

सन्देह होनेपर भी परीक्षित् को ऋषिके गलेमें मरा सर्प तो नहीं डालना था; किन्तु धनुषसे उठाकर मरा सर्प उन्होंने महात्माके गलेमें डाल दिया। महात्मा स्थिर बैठे रहे। परीक्षित् चले गये।

उन शमीक ऋषिके पुत्रको जब यह समाचार मिला, तो उस बालकने शाप दे दिया: 'राजाको सातवें दिन तक्षक दंशन करेगा।'

महात्मा समाधिसे उठे तो उन्होंने पुत्रको डाँटा: **अल्पीयसि द्रोह उरुर्दमो धृतः**—'राजाका तनिक-सा अपराध था, पर तूने तो बहुत कड़ा दंड दे दिया।' उस महात्माने कहा: 'परीक्षित्के साथ अन्याय किया गया।' जिसका अपराध किया गया, उसीने कहा: 'अपराध छोटा और दंड बड़ा है, अतः यह मेरे पुत्रका अन्याय है।'

यह शाप राजा परीक्षित्को कैसा लगा? वे भी उलटा शाप दे सकते थे; किन्तु उनके मनमें यह कल्पना ही नहीं आयी कि मैं शापके बदले शाप दे दूँ! उन्होंने कहा: 'यह मेरा अपराध नहीं कि मैंने ऋषिके गलेमें अजगर पहना दिया। मैं तो भगवान्से विमुख होकर संसारासक्त हो गया था: **यत्र प्रसक्तो भयमाशु धत्ते**—जिस प्रपञ्चमें आसक्त हो जानेपर मनुष्यको भयका सामना करना पड़ता है, मैं उसीमें अत्यन्त आसक्त हो गया था। इसलिए ऋषिपुत्रने शाप दिया कि मेरे हृदयमें निर्वेदका जागरण हो। मृत्युकी मुझे कोई चिन्ता नहीं।'

सभीके जीवनमें कोई न कोई भयंकर समय आता है। उस समय यदि वह भगवान्को पकड़ ले तो वही भयंकर समय अपने जीवनमें सबसे बड़ा वरदान बन जाता है। यदि उस भयंकर

समयसे लाभ उठाकर अपनी मनोवृत्ति भगवान्‌में नहीं जोड़ी, तब तो वह समय और भी भयंकर हो जाता है।

राजा परीक्षित्‌को पता लग गया था कि 'ऋषि-बालकने मुझे शाप दे दिया है और तक्षकके काटनेसे मैं सात दिनमें मर जाऊँगा। फिर भी **न सम्मुमोहोरुभयात्**—इतना भयंकर प्रसंग आनेपर भी उनके मनमें मोह नहीं हुआ। **विमर्शितौ हेयतायां पुरस्तात्**—लोक या परलोकमें उन्हें अपने लिए कोई भोग नहीं चाहिए। वे तो केवल भगवत्तत्त्वमें स्थित होना चाहते थे!

भागवत - धर्मकी समग्रता, श्रवण - मनन - निदिध्यासन और ध्यानकी अखण्डता देखनी हो तो राजा परीक्षित्‌में देखिये। जो अपने स्वार्थको ही पकड़े रहते हैं, उनका हाथ ढीला करनेके लिए ही यह भागवत-धर्म प्रकट हुआ है।

परीक्षित्‌ने कहा : 'ब्राह्मण-बालकने जो मुझे शाप दिया, वह शाप नहीं, मुझपर अनुग्रह है। मेरी मृत्यु उस शापसे नहीं होगी। शाप तो केवल भविष्यकी सूचना है। ऋषिकुमारने कुछ दिन पहले मृत्यु बतलाकर मुझपर अनुग्रह ही किया। मैं मरनेवाला था, पर इतना प्रमादी बन गया कि मुझे अपनी मृत्युका पता ही नहीं था। अतः ऋषिपुत्रने मुझे सावधान करनेकी कृपा की।'

राजा परीक्षित्‌ने कोई प्रति-व्यवस्था नहीं की। जैसे गर्भावस्थामें ब्रह्मास्त्रसे पीड़ित होनेपर भगवान् राजा परीक्षित्‌की रक्षा करने हाथमें गदा और चक्र लेकर पहुँचे थे, वैसे ही शाप-पीड़ित होनेपर (शाप भी ब्रह्मास्त्र था) परीक्षित्‌के मनमें न ब्राह्मणके प्रति रोष है, न शाप या मृत्युसे भय और न राज्यकी चिन्ता। उस अवस्थामें भी वे परमशान्ति, परमवैराग्यका अनुभव कर कहते हैं :

द्विजोपसृष्टः कुहकस्तक्षको वा दशत्वलं गायत विष्णुगाथाः ।
'साक्षात् मृत्यु रूप धारण करके आये या तक्षक बनकर आये और मुझे काट ले, इसकी मुझे चिन्ता नहीं। महात्माओ ! आप सब तो भगवान्का ऐसा चरित सुनाओ कि उसे सुननेमें मैं डूब जाऊँ।'

तब भगवान् ही शुकदेवजीके रूपमें प्रकट हुए। ये शुकदेवजी भागवत हैं और राजा परीक्षित् भी भागवत। यदि इनके द्वारा आचरित धर्म हमारे जीवनमें आ जाय, तो संसारके सब दुःखोंसे हमें मुक्ति प्राप्त हो जाय।

एक मत यह है कि राजा परीक्षित् मृत्युसे डरते थे। मृत्युके डरसे ही उन्हें वैराग्य हुआ। मृत्युके भयसे ही उन्होंने श्रीमद्भागवत-कथाका श्रवण किया। किन्तु श्रीमद्भागवतके अन्तरंगमें प्रवेश करनेपर यह बात ठीक नहीं मालूम पड़ती।

मृत्युका भय लगता अवश्य है, पर यदि मृत्युके डरसे मनुष्यके मनमें वैराग्य आये, भगवान्की भक्ति आये, अन्तर्मुखता आये तो उसे सौभाग्यकी ही बात समझनी चाहिए। किसी भी निमित्तसे मनुष्य यदि सन्मार्गपर चले, तो वह उसके लिए सौभाग्यकी ही बात है। किन्तु परीक्षित्के जीवनमें इससे विलक्षण बात देखनेमें आती है।

× × ×

पहले मृत्युके सम्बन्धमें एक-दो बातें सुन लें। मैंने भी बचपनमें सुना था कि मेरी मृत्यु जल्दी हो जायगी। ज्योतिषियोंने कुंडली देखकर बतलाया था कि 'केवल १९ वर्षकी मेरी आयु है।' मेरे पितामह एवं पिता दोनों बड़े ही ज्योतिषी थे। उन लोगोंके मनमें भी यही बात बैठ गयी कि बालक बहुत थोड़ी आयु लेकर आया है। जल्दी मेरा विवाह हुआ कि पुत्र हो जाय तो वंश चलता रहे।

जब बात मेरी समझमें आ गयी तब मैंने महात्माओंके पास जाना प्रारम्भ किया। मैं सोचता था कि कोई महात्मा ऐसा मिले, जो मुझे मृत्युसे बचा दे। मेरे पास इस बातके कई उदाहरण हैं :

काशीमें एक औघड़ महात्मा बाबा गुलाबचन्दजी थे। जितनी देर मैं उनके पास रहता, उतनी देर वे शराब नहीं पीते थे। काशीके आस-पास 'किनाराम-पंथ' नामक अघोरी-सम्प्रदाय है। उसमें औघड़ साधु होते हैं, जो सब कुछ खाते-पीते हैं।

बाबा गुलाबचन्दजी बड़े सिद्ध थे। उनकी सिद्धिका एक नमूना अभी भी है। एक मुसलमान युवक उनके पास आता-जाता था। एक दिन वह मर गया। उसके घरवालोंने उसे कब्रमें गाड़ दिया। उस समय महाराज कहीं बाहर गये थे। जब वे लौटे तो बोले : 'राम-राम ! तुम लोगोंने इसे जिन्दा ही गाड़ दिया। वह तो अभी मरा नहीं है।'

उनके जोर देनेपर कब्र खोदी गयी तो युवक जीवित निकल आया। इसके बाद महाराज पचीस वर्ष जीवित रहे तो वह उनकी सेवा करता रहा। उसने माता, पिता और पत्नी छोड़ दी। महात्माजी-की मृत्यु होनेपर अब वही उनके आश्रमको सम्भालता है।

× × ×

जबलपुरके मेरे एक भक्त है, गिरिजानन्दनजी। वेदान्तका उन्हें अच्छा अभ्यास है। जब वे ३-४ वर्षके थे, उनकी मृत्यु हो गयी। बच्चोंको जलाया नहीं जाता, इसलिए घरवालोंने ले जाकर गाड़ दिया। इतनेमें धूनीवाले बाबा चिल्लाये : 'अरे जिन्देको गाड़ दिया ?' खोदकर निकलवाया गया तो बच्चा जीवित निकला। वे अभी भी जीवित हैं।

तात्पर्य यह कि जो तपस्वी-शक्तिशाली महापुरुष हैं, उनके संकल्पमें बड़ी शक्ति होती है। वे चाहें तो पूरी सभाको सुला दें और चाहें तो पूरी सभाको जगा दें।

मेरे मनमें वासना थी कि मैं भी किसी सिद्ध महात्माके पास पहुँच जाऊँ, तो मरूँगा नहीं। एक महात्मासे मैंने अपने हृदयका दुःख सुनाया तो उन्होंने कहा : 'हमारे पास मृत्युको टाल देनेकी शक्ति तो नहीं है और तुम्हें भी हम यही सम्मति देते हैं कि मृत्युसे बचनेके लिए किसी महात्माके पास मत जाओ। मैं तुम्हें ऐसी स्थितिमें कर सकता हूँ कि मृत्युसे तुम्हें डर न लगे। मैं मृत्युसे तुम्हें निर्भय कर सकता हूँ।'

उन महात्माने बतलाया : 'मृत्युसे बचनेकी अपेक्षा मृत्युसे निर्भय होना श्रेष्ठ है; क्योंकि जीवनका ठोस सत्य है मृत्यु और उसका सामना कभी-न-कभी करना ही पड़ेगा। अतः अभीसे इस सामना करनेका अभ्यास डाल लो।'

आप यदि यह कल्पना करते हैं कि 'हमारी आगे मृत्यु होगी' तो अपने वर्तमानको नष्ट करते हैं या नहीं? आप यदि कोई मर गया, इस बातको लेकर रोते हैं, तो भी अपने वर्तमानको नष्ट करते हैं। यदि भूतकालमें मरे-बिछुड़े पदार्थको लेकर आप इस समय दुःखी होते हैं, तो आपका यह समय व्यर्थ चला जाता है। इसी प्रकार आगे आनेवाले दुःख, भय, अभावके लिए आप इस समय इतनी चिन्ता करने लगते हैं कि वर्तमानमें हमें क्या करना चाहिए भूल जाते हैं तो वर्तमानको नष्ट कर देते हैं। यदि आप सोचते हों कि 'हमें कल समाधि लगेगी और ईश्वरका दर्शन होगा या आत्मस्थिति प्राप्त होगी और वह इस समय नहीं है, तो आप अपने अपराधी हो या ईश्वरके अपराधी हो या समाधिके अपराधी

हो—इसपर विचार करें, क्योंकि जो समाधि कल नहीं थी, वह डूब गयी। वह सच्ची नहीं। वह ईश्वर नहीं है, वह अपना आत्मा भी नहीं जो आज नहीं है। कल जो ईश्वर मिला और मिलकर चला गया, उसका मिलना कालसे बाधित हो गया।

यदि आप सोचते हों कि हम वैकुण्ठ या गोलोकमें पहुँचेंगे तभी ईश्वर मिलेगा, तो यहाँवाले ईश्वरके प्रति क्या न्याय कर रहे हैं? कलवाले ईश्वरके सम्बन्धमें सोचनेसे आजवाले ईश्वरका तिरस्कार होता है। दूरवाले ईश्वरके विषयमें सोचनेसे यहाँवाले ईश्वरका तिरस्कार होता है। ईश्वरके साथ न्याय तभी होगा जब आप इसी समय, यहीं, इसी अनुभूतिमें ईश्वरको देखें।

यदि हम देशमें चल रहे हैं तो ईश्वरको देखते हुए चल रहे हैं। यदि हम कालमें चल रहे हैं तो प्रत्येक परिवर्तन ही ईश्वरका रूप है। यदि हमारे सामने वस्तुएँ आ रही हैं, तो वे सब ईश्वरका रूप हैं। हम गंगा-किनारे चलते हैं, तो गंगाकी धाराको और लहरें उसके प्रत्येक तरंग, प्रत्येक बूँदको गंगा समझते हैं। जो धारा बह गयी वह भी गंगा, जो आनेवाली है वह भी गंगा और जो सामने दीख रही है वह भी गंगा! इसी प्रकार ईश्वररूप गंगामें ही हम स्थित हैं।

संसारको आप चाहे श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार ब्रह्मका अविकृत परिणाम मानें, चाहे श्रीरामानुजाचार्यके अनुसार परिणाम, चाहे श्रीनिम्बार्काचार्यके अनुसार कार्य-कारणभाव, या श्रीशंकराचार्यके अनुसार विवर्त; पर यह मैं-तुम, यह-वह रूप सम्पूर्ण प्रपंच ईश्वरसे भिन्न नहीं है—यह कितने आनन्दकी बात है!

कोई समय ऐसा नहीं, जब ईश्वर न हो। कोई स्थान ऐसा नहीं, जहाँ ईश्वरकी अनुभूति न हो। कोई वस्तु—व्यक्ति, जाति,

सम्प्रदाय ऐसा नहीं जिसमें ईश्वर न हो। इसका एक बहुत श्रेष्ठ परिणाम निकलता है कि हम ईश्वरको सर्वात्मक मानते हैं। सर्वात्मक ही नहीं, सर्वातीत भी मानते हैं। यदि लक्ष्य हमारा सर्व है तो उसका लक्षण भी सर्व होगा, उसका साधन भी सर्व होगा। इसलिए धर्म, उपासना, ज्ञान आदि सब साधन हैं। अतःएव सभी आचार्य ठीक हैं, सभी साधन ठीक हैं और सभी सम्प्रदाय ठीक हैं।

राजा परीक्षित् यह सत्य जानते हैं। वे मृत्युसे डरते नहीं। उन्होंने कहा : 'मृत्यु छिपकर आये या प्रकट होकर, हमें उसकी चिन्ता नहीं। आप भगवच्चरित्र गाइये।'

श्रीमद्भागवतके अन्तमें राजा परीक्षित् कहते हैं :

भगवन् तक्षकादिभ्यो मृत्युभ्यो न बिभेम्यहम्।

'तक्षकादि मृत्युके निमित्तोंसे मैं डरता नहीं।' परीक्षित्का एक ही आग्रह है भगवान्की चर्चा और केवल भगवान्की चर्चा उन्हें सुननेको मिले।

द्वितीय स्कन्ध

५ | एक झाँकी

दूसरे स्कन्धमें दस अध्याय हैं। इनमें तीन बातें समझायी गयी हैं : १. भगवान्का तत्त्व-ध्यान करनेकी विधि, २. हृदयकी निर्मलता ३. और विचारकी पराकाष्ठा, मनन।

पहले दो अध्यायोंमें ध्यानका वर्णन है। दो अध्यायोंमें श्रोता-वक्ताके हृदयकी निर्मलता है। छह अध्यायोंमें मनन है। इन छह अध्यायोंमें से एक अध्यायमें जगत्की उत्पत्तिका वर्णन, दूसरेमें जीवोंका वर्णन, तीसरेमें भगवान्के अवतारोंका वर्णन है। शेष तीन अध्यायोंमें ब्रह्म-निरूपण है।

तस्माद् भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताऽभयम्॥
२.१.५.

शुकदेवजीने कहा : 'परीक्षित्! सर्वात्मा, सर्वेश्वर भगवान् श्रीहरिके विषयमें श्रवण करो, उनके ही यशका कीर्तन करो, उन्हींका स्मरण करो। अभय चाहनेवालेके लिए यही उपाय है।

वासनाओंका विस्तार कितना है, इसपर ध्यान दें। एक है कर्म-वासना, इससे शरीरकी उत्पत्ति होती है। दूसरी, पूर्वानुभव-

वासना है। इसीके कारण शिशु माताके स्तनोंसे दूध खींचता है। अविद्या-वासनाके कारण 'यह मेरी माता या पिता, पुत्र, पत्नी आदि माना जाता है। जबतक ईश्वरप्राप्ति, समाधि या आत्माके विषयमें ठीक-ठीक श्रवण नहीं करेंगे, तबतक इन वासनाओंका संस्कार कभी नहीं होगा।

अतीन्द्रिय पदार्थ बिना श्रवणके जीवनमें प्रवेश नहीं करता। आप स्मरण करते हैं : 'समाधिमें शान्ति थी।' इस प्रकारकी किसी स्मृतिका नाम ज्ञान या 'प्रमाण' नहीं होता।

श्रीमद्भागवतमें पहला ध्यान वह है, जो ब्रह्माजीने पहले-पहल किया था, विराट्का ध्यान ! यह ध्यान कि 'समग्र सृष्टि परमात्मामें है' :

एवं पुरा धारणयाऽऽत्मयोनिर्नष्टां स्मृतिं प्रत्यवरुद्ध्य तुष्टात्।
२.२.१

जब भगवान्के विराट् रूपका ध्यान किया, तभी ब्रह्माको सृष्टिका ज्ञान हुआ। यह ध्यान राग-द्वेषसे नहीं होगा। इसे 'तत्त्व-ध्यान' कहते हैं।

इसके बाद चतुर्भुज नारायणके ध्यानका वर्णन है :

केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्।
चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गशङ्खगदाधरं धारणया स्मरन्ति॥
२. २. ८

दोनों ही ध्यानोंमें ऐन्द्रियक पदार्थका महत्त्व चला जाता है। भागवत-धर्मका मुख्य रूप यही है कि सब परमात्मा, सब परमात्मामें और सबके परे परमात्मा। आत्मा और परमात्मा एक।

आगे साधकके देहोत्सर्गका वर्णन है। एड़ीसे मूलस्थान दबाया। अपान वायुको क्रमशः मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत और विशुद्ध-चक्रोंमें उठाते आज्ञा-चक्रमें ले गये। यहाँ वर्णन है कि यदि मुक्त होना हो, तो मन-इन्द्रियोंको यहीं छोड़ दे। यदि दिव्य-लोक देखने हों तो **सहैव गच्छेन्मनसेन्द्रियैश्च**। २.२.२२

मन-इन्द्रियोंको अपने साथ शरीरसे निकाल लेना चाहिए। तभी इन्द्रके यहाँ होकर ब्रह्मलोक पहुँचेंगे। ब्रह्मलोकका अर्थ है, सूक्ष्म समष्टि। वहाँ हिरण्यगर्भ प्रत्यक्ष रहता है। वहाँ पहुँचनेपर कभी शान्ति होती है, तो कभी विक्षेप भी। वहाँ दुःख, बुढ़ापा, रोग नहीं है।

ब्रह्मलोकमें पहुँचनेपर कोई अपना दुःख तो नहीं है। अन्तः-करणवान् व्यक्ति ब्रह्मलोकमें गया है। वह देख रहा है कि वहाँ न रोग है, न जरा, न मृत्यु और न वासनाएँ ही। स्वर्गलोकमें वासनाओंकी पूर्तिसे सुख मिलता है। ब्रह्मलोकमें वासनाओंकी शान्ति होकर सुख मिलता है।

लेकिन इस ब्रह्मलोकमें भी दुःख है। यहाँसे जब मर्त्यलोककी ओर देखते हैं तो हृदय पीड़ासे भर जाता है। भागवत-धर्मकी यही तो विशेषता है—दूसरेका दुःख देखकर दुःखी हो जाना :

यच्चित्ततोदः कृपयानिदंविदां दुरन्तदुःखप्रभवानुदर्शनात्।
२.२.२७

देखते हैं कि संसारके लोग नहीं जानते कि आत्माका जन्म-मरण नहीं है। अपने आत्माको अजर-अमर न जाननेके कारण ये तुरन्त जन्म-मृत्युके चक्रमें ऐसे पड़े हैं, जैसे कोई स्वप्नमें दुःखी हो रहा हो या मनोराज्यसे दुःखी हो रहा हो। इस प्रकार संसारके प्राणी

वस्तुतः दुःखी न होनेपर भी दुःखी हो रहे हैं। वस्तुतः मृत्यु न होनेपर भी मृत्युका अनुभव कर रहे हैं। वस्तुतः जरा और रोग न होनेपर भी अपनेको रोगी तथा बूढ़ा मान रहे हैं। यह देखकर ब्रह्मलोकमें गये महात्माका हृदय करुणासे दुःखी हो जाता है।

इस तरह ब्रह्मलोकमें बैठा महात्मा संसारके लोगोंको दुःखी देख सोचता है कि 'ये बेचारे दुःखी हैं और हम यहाँ विमानमें बैठे हैं':

ब्राह्मणः समदृक् शान्तः दीनानां समुपेक्षकः।
च्यवते ब्रह्म तस्यापि भिन्नभाण्डात् पयो यथा॥

अर्थात् समदर्शी, शान्त, ब्रह्मज्ञानी है; किन्तु यदि वह दोनोंकी उपेक्षा कर देता है तो उसका सारा-वैदिकज्ञान च्युत हो जाता है, जैसे : फूटे घड़ेसे पानी।

ततो विशेषं प्रतिपद्य निर्भयः—ब्रह्मलोकमें बैठा महात्मा संसारके प्राणियोंका यह असह्य दुःख देखकर ब्रह्मलोकसे कूद पड़ा और आकर धरतीसे एक हो गया। पृथ्वी बनकर उसने सबको अपने ऊपर उठा लिया। फिर जल बना, सबको रस दिया। फिर अग्नि बनकर सबको ऊष्मा दी। फिर वायु बना, सबको प्राण दिये। फिर आकाश बनकर सबको अवकाश दिया। अन्तमें फिर परब्रह्म परमात्माका ध्यानकर अपनेको उनसे अभिन्न देखा : "मेरे अतिरिक्त कोई जीव ही नहीं था। मैं जो दूसरेको दुःखी समझ रहा था, वह दूसरा दुःखी नहीं था। दुःखका अनुभवी तो स्वयं मैं ही था। ब्रह्मलोक जाकर मेरा व्यक्तित्व नष्ट नहीं हुआ। इससे मैं दूसरोंको दुःखी और अपनेको सुखी समझ रहा था। वहाँ भेद-दृष्टि

विद्यमान थी। मैं अपनेको ऊपर और दूसरोंको नीचे समझ रहा था। 'मैं शान्त, निर्वासन, अजर-अमर और शेष संसारके जीव अशान्त, वासनावान्, जरा-मृत्युग्रस्त' यह भेद-बुद्धि ही मेरा भ्रम था।

इस प्रकार सम्पूर्ण विश्वात्मासे एक होकर उसने सद्योमुक्ति प्राप्त कर ली।

× × × ×

वैराग्य-प्रधान 'विराट्'का ध्यान है। 'सम्पूर्ण सृष्टि भगवान्के अङ्गोंमें ही है' इस ध्यानसे राग-द्वेषकी सर्वथा निवृत्ति हो जायगी। अभ्यास-प्रधान 'पुरुष'का ध्यान है। इससे चित्त स्थिर हो जायगा।

रागोपहतिर्ध्यानम्—संसारमें कहीं राग-द्वेष न हो और व्यवहार सब होता रहे, इसका नाम 'ध्यान' है। यह बात सांख्य-शास्त्रमें मानी गयी है। वे कहते हैं : यदि कहो कि 'हम समाधि-कालमें द्रष्टा थे और व्यवहार-कालमें कर्ता हो गये' तो व्यवहार-कालमें द्रष्टाका केवल स्मरण ही कर सकते हैं, स्वयं द्रष्टा नहीं हो सकते। केवल द्रष्टाका स्मरण करना यानी 'मैं समाधि-कालमें द्रष्टा था', यह सांख्यका विवेक नहीं हुआ। अतः व्यवहारमें रहते हुए कहीं 'राग-द्वेषका स्पर्श न होना' ही सांख्योक्त ध्यान है।

यह सम्पूर्ण विश्वसृष्टि विराट् है। सांख्यदर्शन आत्माको आनन्दस्वरूप नहीं मानता। वह कहता है : 'आत्मा या परमात्मा कोई भी आनन्दस्वरूप होगा, तो आनन्दाकारवृत्ति होगी और उसमें राग हो जायगा। राग होनेपर **एतद्वृत्तिमानहम्** इस प्रकार वृत्तिमान् होकर तुम एक परिच्छिन्न जीव ही रह जाओगे। अपनेको विभु द्रष्टाके रूपमें अनुभव न कर सकोगे।' अतः राग-द्वेष न होना और वृत्तिका प्रतीत होने रहना, सम्पूर्ण व्यवहार होते हुए भी राग-द्वेष न होना साधन है।

सांख्यदर्शनके दो भेद हैं : १. निरीश्वर सांख्य और २. सेश्वर सांख्य। निरीश्वर सांख्यवादी कहता है : 'तुम्हारा ईश्वर कहाँ रहेगा ? वह या तो दृश्य होकर रहेगा या द्रष्टा होकर। यदि वह द्रष्टा है तो अपनी आत्मासे भिन्न नहीं। यदि दृश्य है तो प्रकृतिकी कोटिमें चला गया।' अतः निरीश्वर सांख्यमें जीवन्मुक्तिके लिए—असङ्ग व्यवहारके लिए, केवल दृश्यसे अपनी विवेकख्याति ही आवश्यक मानी गयी है।

यह बात भिन्न है कि परवर्ती विद्वानोंने निरीश्वर सांख्यको भी सेश्वर सांख्य सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। वे कहते हैं : 'तुम अपनी सत्ताका उपयोग करते हो कि 'मैं हूँ', ज्ञानका उपयोग करते हो कि 'मैं द्रष्टा हूँ' तो अपनी प्रियताका उपयोग क्यों नहीं करते ? क्या तुम्हारे जीवनमें प्रियताकी वृत्ति सर्वथा नहीं है ?' यहींसे भक्ति-सिद्धान्तका प्रारम्भ होता है। यदि तुम्हारे जीवनमें सचमुच 'प्रियता' नामक कोई व्यावहारिक वृत्ति है, तो उसका सम्बन्ध या तो आत्मासे हो या परमात्मासे। यदि इन्हें छोड़ अन्यत्र प्रियबुद्धि करोगे तो राग-द्वेषके चक्करमें पड़ जाओगे।

भागवतका सिद्धान्त तो यह है कि ईश्वरकी कृपाके बिना ज्ञान भी पूर्ण नहीं हो सकता।

> अनाद्यविद्यामुक्तस्य पुरुषस्याऽऽत्मवेदनम्।
> स्वतो न सम्भवादन्यत् तत्त्वज्ञो ज्ञानदो भवेत्॥

जीव तो अनादि अविद्याके चक्करमें पहलेसे ही पड़ा है। जब-तक उससे भिन्न तत्त्वज्ञ उसे अपने स्वरूपका ज्ञान नहीं कराता, वह हो नहीं पाता। स्वयं ज्ञान होना सम्भव ही नहीं। स्वयं ज्ञानमें उदय या विलय नहीं। स्वयं न ज्ञानका नाश होता है, न स्वयं

उदय। ज्ञान तो नित्य है। किन्तु यही ज्ञान है, यह बतलानेवाला कोई चाहिए। अतः सेश्वर सांख्यमें पुरुष-ध्यानकी ही प्रधानता है।

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्—योगदर्शन(३.२) के मतमें लक्ष्यमें चित्तवृत्तिका एकाग्र होना ध्यान है। सम्पूर्ण वेदोंका तीनबार स्वाध्याय करके ब्रह्माने यह निश्चय किया :

भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया।
तदध्यवस्यत् कूटस्थो रतिरात्मन् यतो भवेत्॥

२.२.३४

भगवान् ब्रह्माने सम्पूर्ण वेदोंका तीनबार भलीभाँति जो अन्वीक्षण किया, वह भी मनोनुसारिणी बुद्धिसे नहीं, मनीषासे।

एक बुद्धि होती है, जो अपनेको पसन्द बात वेद-शास्त्रमें से निकाल देती है। यह मनोनुसारिणी बुद्धि है। एक मनीषानुसारी मन होता है। मनसः+ईषा=मनीषा। मनको घसीटकर तत्त्वकी ओर ले जानेमें जो प्रेरणा-समर्थ है, उस बुद्धिको 'मनीषा' कहते हैं। इस मनीषासे तीनबार वेदोंका सम्यक् अनुसन्धान करके ब्रह्माजीने —जिससे आत्मामें, परमात्मामें मनुष्यकी रति हो जाय, उस— वेदका तात्पर्य-निश्चय किया।

रति होना आवश्यक है, किस उपायसे हो, यह देखना आवश्यक नहीं। जिससे भी भगवान्में रति हो, वह करो। रोनेसे हो तो रोओ, पढ़नेसे हो तो पढ़ो, योगाभ्याससे हो तो वही करो। साधनमें आग्रह नहीं, पर सिद्धकी स्थिति ऐसी होनी चाहिए कि आत्मारामता, भगवद्रामता आये।

भगवद्-रति और आत्मरति भिन्न नहीं हैं।

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।

आत्मा और परमात्मा भिन्न नहीं। इसी तरह जो भगवद्रति है, वही आत्मरतिका अर्थ है।

दूसरे अध्यायसे आगे दो अध्यायोंमें श्रोता और वक्ताकी भगवच्चरित्रमें कितनी श्रद्धा है, यह बतलाया गया है। इसका अर्थ हुआ कि श्रवण और कीर्तन दोनों भगवत्प्राप्तिके साधन हैं। इस प्रकार इस स्कन्धने बतलाया :

१. विराट् पुरुषका ध्यान करके राग-द्वेषसे रहित होना।

२. पुरुष-ध्यान करके अपनी चित्तवृत्तिको भगवदाकार बनाना।

३. भगवद्गुणानुवादका श्रवण करना।

४. भगवान्‌के नाम, गुण, रूप और लीलाका वर्णन करना।

विराट्‌के ध्यानी भागवत हैं। जैसे : ब्रह्माजी। पुरुषके ध्यानी भागवत हैं। भगवच्चरित्रके श्रोता भागवत हैं। जैसे : राजा परीक्षित्। और भगवच्चरित्रके वक्ता भागवत हैं। जैसे : शुकदेवजी।

इसके बाद ६ अध्यायोंमें मननका वर्णन है। मननके यहाँ दो रूप हैं : उत्पत्ति और उपपत्ति। 'उत्पत्ति' का अर्थ है, कार्य-कारण-भावसे जगत्‌का विचार। 'उपपत्ति' है, कार्य-कारणभाव होनेपर भी परमात्मामें किसी प्रकारका विकार या परिणाम नहीं होता, इस शुद्ध स्वरूपका उपपादन करना।

तीन अध्यायोंमें उत्पत्तिका वर्णन है। इनमें जगत्‌की उत्पत्ति, जीवोंकी उत्पत्ति और परमात्माके अवतारका वर्णन एक-एक अध्यायमें है। तीन अध्यायोंमें उपपत्तिका निरूपण है। ये अन्तिम तीन अध्याय मननात्मक होनेसे इन्हींमें 'चतुःश्लोकी भागवत' है।

तृतीय स्कन्ध

६ एक झाँकी

तृतीय स्कन्धके प्रारम्भमें ही विदुरजीका वर्णन है। विदुरजी कौरव-पाण्डवोंमें से किसीके विपक्षमें नहीं होना चाहते। न तो वे युधिष्ठिरसे युद्ध करना चाहते हैं और न कौरवोंसे।

कौरव-पाण्डव-सेना युद्धके लिए सजी तैयार है। धृतराष्ट्रने चिन्तित होकर विदुरको बुलाया। विदुरने आकर कहा : 'तुम्हारे ये पुत्र बड़े दुष्ट हैं। ये कलियुगके रूप हैं। इनका त्याग कर दो। धर्मराजका जो स्वत्व है, वह उन्हें दे दो।'

इसपर दुर्योधन, दुःशासन, शकुनि, कर्ण आदि सब विदुर-पर आगबबूला हो उठे। दुर्योधन बोला : 'इस दासीपुत्रको यहाँ किसने बुलाया? जल्दी राज्यसे निकाल बाहर करो। यह केवल श्वास लेता हुआ अर्थात् वस्त्रादि सब कुछ छोड़ यहाँसे भाग जाय' : **निर्वास्यतामाशु पुराच्छ्वसानः** ३.१.१५।

विदुर भी धर्म हैं और युधिष्ठिर भी धर्म। एक साथ धर्मके ये दो अवतार हैं। लेकिन कौरव-पक्षमें धर्मका उपदेश कोई सुनता नहीं। वहाँ वे शूद्र हैं, सेवक हैं। पाण्डव-पक्ष में धर्मराज राजा हैं। सब उनकी आज्ञाका पालन करते हैं।

धर्माधर्म दोनों पक्षोंमें होते हैं। पाण्डव-पक्षमें भी घटोत्कच आदि राक्षस हैं; किन्तु वहाँ आज्ञा चलती है धर्मराजकी। कौरव-पक्षमें भी धर्म है। वहाँ भीष्म, द्रोण, कर्ण हैं; किन्तु वहाँ आज्ञा विदुरकी नहीं चलती। विदुर वहाँ एक सेवक हैं। वहाँ आज्ञा अधर्मकी, कलियुगके अवतार दुर्योधनकी चलती है।

विदुर धर्मात्मा नहीं, भागवत हैं। यदि विदुर धर्मात्मा होते तो धनुष लेकर युधिष्ठिरके पक्षसे युद्ध करते; किन्तु **स्वयं धनुर्द्वारि निधाय**—चलते समय अपना धनुष-बाण वे धृतराष्ट्रके महलके द्वारपर रख गये। अर्थात् यह सूचित करते गये कि 'मैं किसी पक्षसे युद्ध करने नहीं जा रहा हूँ।'

भागवत ऐसी किसी बातको स्वीकार नहीं करेगा, जिससे उसके हृदयकी भगवदाकारवृत्तिका लुप्त हो जाय। भागवत-धर्ममें भगवदाकार-वृत्तिका महत्त्व सबसे बड़ा है।

विदुरने घर छोड़ दिया। साधारण घर नहीं, बड़ा विलक्षण घर!

प्रविवेशात्मसात् कृतम्—पाण्डवोंको सलाह देनेवाले श्रीकृष्ण सन्धिदूत बनकर हस्तिनापुर आये, तो दुर्योधनके समृद्धिशाली घरमें नहीं गये। वे विदुरके घर बिना बुलाये चले गये।

दुर्योधनने श्रीकृष्णके स्वागत-सत्कारका बड़ा आयोजन किया था। नगरमें द्वार सजाये गये थे। दुःशासनका भवन श्रीकृष्णके लिए सजाया गया। अरबोंकी सम्पत्ति उसमें भेंट करनेको रखी थी। उनसे प्रार्थना की : 'आप हमारा आतिथ्य स्वीकार करें!' लेकिन श्रीकृष्णने कह दिया :

संप्रीतिभोज्यान्यन्नानि आपद्भोज्यानि वा पुनः।
न च संप्रीयसे राजन् न चैवापद्गता वयम्॥

'राजन् ! कोई प्रेमसे खिलाये तो खाया जाता है या हम भूखे मर रहे हों तो चाहे किसीके घर खा लें। किन्तु न तुम्हारे हृदयमें प्रेम है, और न हम विपत्तिमें फँसे हैं।'

विदुरने श्रीकृष्णको आमन्त्रित नहीं किया था; किन्तु स्वयं भगवान् विदुरके घरको अपना घर समझकर वहाँ गये। विदुर जातिमें श्रेष्ठ नहीं थे। विदुर-नीतिका उपदेश करते-करते उन्होंने कहा: 'जहाँतक लौकिक व्यवहारकी बात है, मैं उसकी चर्चा करता हूँ। वैदिक व्यवहारको चर्चा नहीं करूँगा।' उसके लिए उन्होंने सनत्कुमारका आवाहन किया।

जिस घरको अपना समझकर स्वयं भगवान् पधारे, उस घरको छोड़ धर्माधर्मके द्वन्द्वमें पड़े बिना विदुरजी चल पड़े। वे तीर्थोंमें जाते, अवधूत-वृत्तिसे रहते, भूमिमें सोते और केवल भगवान्का स्मरण करते।

इसी यात्रामें उन्हें उद्धवजी मिले। उद्धवजीके सम्बन्धमें कहा गया है:

यः पञ्चहायनो मात्रा प्रातराशाय याचितः।
तन्नैच्छद्रचयन् यस्य सपर्यां बाललीलया॥ ३.२.२

उद्धवजी जब पाँच वर्षके बालक थे, तो माँ खिलौने देती। वे कहते: 'मुझे केवल श्रीकृष्णका खिलौना चाहिए।'

माता कहती: 'देर हो रही है, कलेऊ कर ले।'

उद्धव—'अभी तो मैंने भगवान्की पूजा ही नहीं की।'

नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनो यद्गुणैर्नार्दितः प्रभुः।
३.४.३१

श्रीकृष्ण कहते हैं : 'उद्धवजी मुझसे तनिक भी कम नहीं हैं।'

भगवान्‌ने जब लीला-संवरणका संकल्प किया, तो सोचा—'मेरे तत्त्व-ज्ञानकी परम्परा जगत्‌में चलती रहे, इसका एक ही उपाय है : अर्हत्युद्धव एवाऽद्धा (३.४.३०) हमारे ज्ञानकी परम्पराकी रक्षा केवल उद्धव ही कर सकते हैं, क्योंकि विषयोंने उन्हें कुचला नहीं है।

संसारके बड़े-बड़े सम्राट् स्त्रीकी केवल एक तिरछी चितवनसे उसके वशीभूत होकर भूमिपर गिर पड़े और उसने उन्हें अपने पैरों रौंद डाला। कहीं मनुष्यको नाक दबा लेती है, कहीं कान, कहीं जीभ, कहीं त्वचा और कहीं आँख। ये विषय मनुष्यको आत्मा-परमात्मासे, अपने मनुष्यत्वसे पृथक् कर पादाक्रान्त कर देते, रौंद डालते हैं।

पर भगवान् कहते हैं : 'एक उद्धव ही इस समय ऐसे हैं, **सम्प्रत्यात्मवतां वरः** जो अपनी इन्द्रियोंको संयमित करनेवालोंमें श्रेष्ठ हैं। जो इन्द्रियों और विषयोंसे पराजित नहीं हुआ, वह मुझसे कम नहीं।'

सोलह हजार रानियाँ होनेपर भी, सहस्रों गोपियोंसे क्रीड़ा करनेपर भी श्रीकृष्णको ऐसा लगता, जैसे कोई दर्पणमें पड़े अपने प्रतिबिम्बसे खेल रहा हो :

तमयं मन्यते लोको ह्यसङ्गमपि सङ्गिनम्।

मूर्ख हैं वे, जो ऐसे असंगको विषयासक्त मानते हैं। श्रीकृष्णने यहाँ अपनी भी विशेषता बतलायी है : 'उद्धव मेरी बराबरीके हैं;

क्योंकि जैसे मैं विषयोंसे पराजित नहीं हुआ, वैसे ही उद्धव भी विषयोंसे पराजित नहीं हुए।'

उद्धवका भागवतत्व है श्रीकृष्णसे प्रेम ! इतना प्रेम कि विषय उन्हें पराजित नहीं कर सके। विद्या प्राप्त की उन्होंने देवगुरु बृहस्पतिसे। जन्म हुआ वसुदेवजीके भाई देवभागसे। इनका एक नाम बृहद्बल है। यदुवंशमें मुख्य हैं। श्रीकृष्णके सखा हैं और इतने प्रिय हैं कि गोपियोंके पास श्रीकृष्ण इन्हींको भेजते हैं। एक मनुष्यके जीवनमें जितनी विशेषताएँ आ सकती हैं, सब आप उद्धवजीसे देख लें।

उन्हें बृहस्पतिसे शास्त्र-शिक्षा मिली। गोपियोंसे प्रेम-शिक्षा मिली, तो स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने तत्त्वज्ञानका उपदेश किया। उद्धवजीके जीवनमें कहीं भी अपूर्णता देखनेमें नहीं आती।

जब भी यदुवंशियोंमें मतभेद होता, उद्धवजी दोनों दलोंको सम्भालनेका काम करते। मानवके व्यावहारिक ज्ञानके तीन रूप होते हैं :

१. सामान्य ज्ञान : वेद-शास्त्र और न्यायादि सब विषयोंका साधारण ज्ञान।

२. विशेष ज्ञान : किसी भी विषयका परिपूर्ण ज्ञान।

३. समन्वय ज्ञान : संसारकी सम्पूर्ण धारणाओंका जैसे एकत्री-करण हो जाय, ऐसा ज्ञान।

'पहले जरासन्धको मारा जाय या युधिष्ठिरके यहाँ चलकर उन्हें राजसूय-यज्ञमें सहायता दी जाय ?' यह प्रश्न लेकर यदुवंशियोंमें दो दल हो गये। विवाद छिड़ गया। तब श्रीकृष्णने उद्धवसे पूछा : 'क्या करना चाहिए ?'

उद्धवने कहा : 'यदि छोटी नदी बड़ी नदीसे मिल जाय तो समुद्रमें पहुँच जाती है और स्वतन्त्र पहुँचना चाहे तो मार्गमें ही सूख जायगी। अत: पहले बड़ी नदीसे मिलें, तब समुद्रमें चलें :

> बृहत्सहायः कार्यान्तं क्षोदीयानपि गच्छति।
> सम्भूयाम्भोधिमभ्येति महानद्या नगापगा॥

'छोटा-से-छोटा मनुष्य भी बड़ेको सहायतासे बड़ा-से-बड़ा काम कर सकता है। छोटा-सा झरना महानदीसे मिलकर समुद्रतक पहुँच जाता है। अत: पहले युधिष्ठिरसे मिलना चाहिए।'

इस सम्मतिको सुन यदुवंशी एक हो गये। जो पहले जरासन्धको मारनेके पक्षमें थे, वे भी प्रथम युधिष्ठिरके यज्ञमें जानेके पक्षमें हो गये।

जहाँ फूट हो वहाँ मेल करा देना, जहाँ मतभेद हो वहाँ दोनों मतोंको ठीक-ठीक समझाकर समन्वित कर देना, विद्याकी यह विशेषता हम उद्धवके जीवनमें देखते हैं। उनमें प्रेमकी विशेषता, सङ्गठन-शक्ति, राजनैतिक विचार, ब्रह्मज्ञान सब कुछ देखते हैं, साथ ही श्रीकृष्णका अनुगमन भी।

विदुरजी स्वयं घर छोड़कर चले जाते हैं; किन्तु उद्धव स्वयं छोड़कर नहीं जाते, भेजे जाते हैं। ज्ञानप्रधान भक्ति विदुरकी है तो भक्तिप्रधान ज्ञान उद्धवका।

× × ×

तृतीय स्कन्धमें चार स्त्रियोंका वर्णन है। इसमें निकृष्ट स्त्री है है दिति। दिति अपनी इन्द्रियोंपर संयम नहीं रख पाती। वह कश्यपका पल्ला पकड़ लेती है कि 'हमें इसी समय सहवास दो।'

कश्यपने दितिको संकेत किया : 'यह शङ्करजीका समय है' किन्तु उसने कालके नियमको भी नहीं माना। अपने पतिकी आज्ञा नहीं मानी। इस प्रकार १. कालगत दोष, २. देवतापराधकृत दोष, ३. असंयम दोष और ४. पति-आज्ञाका उल्लंघनदोष—ये चार दोष दितिमें आये।

इन चार दोषोंके कारण ही दितिके हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष ये दो असुर पुत्र हुए। जीवनमें ध्यान रखनेकी बात है कि शास्त्रमर्यादा, एकादशी, पूर्णिमा, ग्रहण आदि तथा प्रातः-सन्ध्यादि कालोंका भी ख्याल रखना चाहिए।

क्षणभरमें दितिमें भागवत-धर्मकी विशेषता भी आ गयी, जब कर्मके बाद उसे पश्चात्ताप हुआ। वह शंकरसे डरी भी कि 'कहीं वे मेरे गर्भका नाश न कर दें।' पतिसे उसने क्षमा माँगी, तब प्रसन्न होकर कश्यपजीने कहा : 'तेरे पुत्र दुष्ट होंगे; किन्तु तेरा पौत्र भगवद्भक्त होगा।' इससे यह प्रकट हुआ कि विनय, पश्चात्ताप और आज्ञापालनसे मनुष्यके जीवनमें कल्याण होता है।

दिति और कश्यपके दाम्पत्यमें आज्ञाकारित्व न होनेसे सन्तान असुर हो गयी; किन्तु शतरूपा और मनुके दाम्पत्यमें दोनोंमें कहीं मतभेद था ही नहीं। जहाँ पति-पत्नीमें मतभेद नहीं, वह सबसे सुखी गृहस्थ है। शतरूपा-मनु भागवतधर्मी हैं।

× × ×

तीसरा दाम्पत्य देवहूति-कर्दमका है। इसमें पति विरक्त है और पत्नी है पतिव्रता। वह सब प्रकारसे पतिकी सेवा करती है; किन्तु अन्तमें पति छोड़कर चले जाते हैं। वह भी पतिके मार्गपर ही जाती है; किन्तु पतिके संन्यासमें बाधा नहीं डालती। पुत्रके

द्वारा ज्ञान प्राप्तकर अपने स्थानपर हो जीवन्मुक्त हो जाती है। शास्त्रमें जितनी स्त्रियोंका वर्णन है, उनमें जीवन्मुक्तके रूपमें देवहूतिका ही वर्णन है।

पातिव्रत, सेवा और संयमका फल देवहूतिको मिला—पुत्र-रूपमें भगवान् कपिलका मिलना। दितिको असंयमका फल मिला जो उसके पुत्र असुर हो गये।

कर्दम भी भागवत हैं और देवहूति भी भागवत हैं। पहले विवेक करके दोनोंका अलगाव जान लेना चाहिए, फिर दोनोंका एकत्व। कारण, बिना विश्लेषणके जो एकत्व जाना जाता है, वह भावनात्मक होता है। कर्दम-देवहूति दोनों भागवत हैं; किन्तु दोनोंमें विलक्षण अन्तर देखनेमें आता है।

प्रजापति ब्रह्माने कर्दमको सन्तान उत्पन्न करनेकी आज्ञा दी। सामान्य लोग विवाह करते हैं और बच्चे उत्पन्न करते हैं; किन्तु ऐसी सन्तान क्या उत्पन्न करना जो—

जातो वा न चिरञ्जीवेद् जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः।

पहले तो जल्दी उत्पन्न ही न हो, उत्पन्न हो तो अल्पायु हो और कहीं दीर्घायु भी हो तो हाथ-पैर, आँख-कान या हृदय-मस्तिष्कसे दुर्बल हो। आयुर्वेदने कहा है :

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिः।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते॥

'यदि स्त्री सोलह वर्षसे कम आयुकी हो और पुरुष पचीस वर्षसे कम तथा असंयमके कारण उनके संयोगसे गर्भ रह जाय तो गर्भपात होनेकी ही सम्भावना अधिक रहती है। अतएव पहलेके

लोगोंको सन्तानोत्पादनकी शीघ्रता नहीं होती थी। वे बड़े संयमी, बड़े तपस्वी होते थे।

कर्दमने सोचा : 'पिताजीकी आज्ञा सन्तानोत्पादनकी है तो हम पहले तपस्या करके वीर्य-संचय, शक्ति-संचय, प्रज्ञा-संचय करें; क्योंकि इससे जो सन्तान होगी, वह श्रेष्ठ सन्तान होगी।'

सिद्धपुरमें बिन्दुसरोवरके पास उन्होंने तपस्या की। तपस्या करनेपर उन्हें भगवान्‌का दर्शन हुआ। भगवान्‌ने उन्हें विवाह करनेकी आज्ञा दी। तदनुसार कर्दम-देवहूतिका विवाह हुआ।

श्रीमद्भागवतमें बार-बार यह आता है कि 'पत्नीने पतिका मन पकड़ लिया।' प्रश्न है, यह कैसे होता है ?

यदि पत्नी पहले ही अपना अधिकार जतलाये और कहे कि 'तुम्हें अपना मन मुझे दे देना होगा', तो ऐसे किसीका मन किसीको नहीं मिलता। पहले अपना मन, जो अपने हाथमें है, दूसरेको देना पड़ता है। जब हम दूसरेको अपनामन दे देते हैं, तब दोनों मन परस्पर मिल जाते हैं। तब यदि हम अपना मन धीरे-धीरे खींचें तो दूसरा मन हमारे मनके साथ खिंच आता है। इसी प्रकार जीवनमें सामञ्जस्य आता है।

कर्दम थे विकट तपस्वी। स्वयं मनु आकर उन्हें अपनी पुत्री और बहुत-सा धन दे गये।

पिता-माताकी एक ही सन्तान पुत्र-पुत्री दोनों हैं, अतः पैतृक सम्पत्तिमें दोनोंका भाग है। किन्तु पहले यह परम्परा थी कि अचल सम्पत्तिमें पुत्र-पुत्री दोनोंको भाग देकर साले-बहनोईको परस्पर प्रतिद्वन्द्वी न बनाया जाय। इसलिए पुत्रको अचल सम्पत्ति दी

जाय और दामादको चल सम्पत्ति। विवाहमें और विवाहके पीछे भी कन्याको देते ही रहते थे।

स्वायम्भुव मनु और शतरूपाने देवहूतिको बहुत बड़ा पारिबर्ह (दहेज) दिया। दहेजका अर्थ है दायज=दाय+जन्य। दायजका अर्थ है कि वह कन्याका स्वत्व है, कन्याके साथ दिया गया है।

माता-पिता चले गये। एक अनजान पुरुषके साथ वनमें लड़कीको रहना पड़ा।

पितृभ्यां प्रस्थिते साध्वी पतिमिङ्गितकोविदा।

देवहूतिकी पहली विशेषता यह थी कि कर्दमको बतलाना नहीं पड़ता था कि 'यह काम करना है।' संकेतसे ही देवहूति समझ जाती थी। उसमें सौजन्य था, सेवा थी, प्रेम था। साध्वीका अर्थ ही है, सौजन्ययुक्ता। देवहूति साध्वी थी, भावज्ञा थी, नित्य-सेविका थी, प्रेमिका थी। दाम्पत्य-जीवनमें यह होना अत्यावश्यक है।

विश्रम्भेणात्मशौचेन गौरवेण दमेन च।
शुश्रूषया सौहृदेन वाचा मधुरया च भोः॥

३.२३.२

विश्रम्भ—विश्वास, पतिके किसी आचरणपर सन्देह न होना। आत्मशौच अपनेको पवित्र रखना। गौरव—पतिके प्रति गौरवका भाव।

भारतीय संस्कृतिमें मनकी वासना पूरी करनेको महत्ता नहीं दी जाती। महत्ता दी जाती है, चारित्र्यको। अनुशासनके अनुसार चलनेसे चरित्र शुद्ध होता है। वासनानुसारी होनेसे चरित्र गिरता है। अतः अपने घरमें कोई ऐसा बड़ा होना चाहिए, जिसके

सामने हम अपनी वासना रोक सकें। गौरवका अर्थ है कि पतिको अपनेसे बड़ा मानो।

दमेन—अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखना। सुश्रूषया—सेवा करना। सौहृदेन—अपने हृदयको सुष्ठु रखना, अपना हृदय न बिगाड़ना। घरको सुखी बनानेके लिए दाम्पत्य-जीवन होता है, दुःखी बनानेके लिए नहीं। अतः सौहार्द न टूटना चाहिए। वाचा मधुरया—मधुर वाणी बोलना।

एकबार अहमदाबादमें साधुओंकी एक समिति थी। एक साधु कुछ कड़वा बोलने लगे तो श्रीभगवदाचार्यजी बोले: 'देखो! तुम हमारी एक सलाह मानो। एक शीशी शहद झोलीमें रखा करो। जब बोलना हो तो दो बूँद जीभपर डाल लो।' सब लोग हँसने लगे, कटुता मिट गयी।

मनुष्य वमन करता है तो उसने जो खाया है, वही निकलता है। ऐसे ही जब बोलता है तो जो भीतर है—जो पढ़ा-सुना या सोचा है, वही निकलता है। बोलनेसे पता लग जाता है कि तुम्हारे अन्तःकरण और बुद्धिमें क्या भरा है। अतः बोलना मधुर चाहिए।

> विसृज्य कामं दम्भं च द्वेषं लोभमघं मदम्।
> अप्रमत्तोद्यता नित्यं तेजीयांसमतोषयत्॥ ३.२३.१

काम, दम्भ, द्वेष, लोभ, पाप और मद ये छह बातें जीवनमें नहीं होनी चाहिए। आप यदि घरमें अपना विश्वास खो देंगे, यदि लोगोंका यह ख्याल हो जायगा कि 'यह स्त्री या महापुरुष ढोंगी है' तो बीमारीमें भी लोग कह देंगे—'यह तो यों ही कराहते हैं।' अपने विषयमें दूसरेका खयाल बिगाड़ना बहुत बुरा है।

काम—अपने लिए कुछ न चाहना। रूठना भी तो प्रियके सुखके लिए, नहीं अपने लिए। कुछ चाहिए, इसलिए न रूठना। प्रियने अपने भोजन, स्नान, सुखकी उपेक्षा की, यह रूठनेकी बात है। यह भागवत-धर्म है, जिसने प्रेमके इस पाठकी पाठशाला खोल दी है। गोपियोंके प्रेम-प्रसंग प्रेमकी पाठशाला है। उससे सीखो कि प्रेम कैसे किया जाता है।

अप्रमत्तोद्यतानित्यम्—कभी अपनेसे प्रमाद न हो। लोग कहते हैं : 'भूल गये।' यही प्रमाद है। प्रमाद तमोगुण है, अपराध है, प्रेम न होनेका प्रमाण है। आपको नींद कब आती है ? जब आपके निकट कोई रुचिकर विषय नहीं रहता।

इस प्रकार देवहूतिने पतिको प्रसन्न कर लिया। वे व्रत-सेवा करते-करते दुबली हो गयीं : **क्षामां कर्शितां व्रतचर्यया**।

देवहूतिने कर्दमको साक्षात् भगवान्का स्वरूप मानकर उनकी सेवा की।

विश्रम्भेण—जहाँ विश्वास नहीं होगा, वहाँ आग जलेगी। जहाँ विश्वास नहीं होता, वहाँ प्रेम भी हो नहीं सकता। प्रेमका बाप है विश्वास। जहाँ परस्पर विश्वास होगा, वहीं प्रेम होगा।

तेजीयांसमतोषयत्—कर्दम पहले समाजमें या किसीके साथ रहे नहीं थे। दूसरेके साथ कैसा व्यवहार करना, इस बातका उन्हें पता नहीं था। तप करते-करते, अकेले रहते-रहते दूसरेसे कैसे मिलकर रहना, यह वे जानते ही न थे। अतः 'जो मेरे मनमें आया, वही होना चाहिए' यह चाहते थे। जो दूसरेके मनका ध्यान नहीं रखेगा, वह कभी व्यवहारमें सफल नहीं होगा; किन्तु देवहूतिने उन बड़े तेजस्वी मुनिकी ऐसी सेवा की कि उन्हें सन्तुष्ट कर लिया।

देवहूतिमें विश्वास था, पवित्रता थी, दम था, आज्ञाकारिता थी। इन सब सद्‌गुणोंसे युक्त, सदा पवित्र रहकर निर्मल मनसे वह कर्दमकी सेवा करती थी।

देवहूतिसे कपिलका अवतार हुआ। कर्दमकी भक्तिमें ज्ञानकी प्रधानता है, तो देवहूतिकी भक्तिमें स्नेहकी प्रधानता।

कर्दमने पहले भगवान्‌की आराधना की, : लेकिन जब घरमें भगवान् कपिलरूपमें प्रकट हो गये, तो उनसे बोले : 'बस महा-राज, अब आप आ गये तो घरमें विराजो! मैं चला वनमें। भगवान् अवतार लेकर पुत्र बनकर घरमें आये और उन्हें छोड़कर कर्दम ब्राह्मीस्थिति प्राप्त करने वन चले गये। कपिलने उन्हें संन्यास लेनेकी अनुमति दे दी।

कर्दम चले गये। देवहूतिको कपिलने उपदेश किया। कर्दम छोड़ गये कपिलको और कपिल छोड़ गये माता देवहूतिको; पर दोनोंमें अन्तर है। कपिलके जानेके बाद—अभूद् गौरिव वत्सला—जैसे बछड़ेके नष्ट हो जानेपर गायकी दशा होती है, वैसी दशा तत्त्वज्ञान होनेपर भी देवहूतिकी हो गयी।

यहाँ भक्तिप्रधान ज्ञान देवहूतिका और ज्ञानप्रधान भक्ति कर्दमकी, यह भागवत-धर्मके दो भेद बतलाये गये।

कपिलके चले जानेपर देवहूतिने उस विमानको ही छोड़ दिया, जिसमें स्वर्गसे भी अधिक सम्पदा एवं सुविधा थी। वस्तुतः मनुष्यको महल नहीं चाहिए, अपना प्रिय चाहिए।

अन्ततोगत्वा देवहूति जीवन्मुक्त हो गयीं।

चतुर्थ स्कन्ध

७ | दो दम्पती

चतुर्थ स्कन्धमें कुल ३१ अध्याय हैं। पहले ७ अध्यायोंमें यज्ञ प्रधान होनेसे 'धर्म' की कथा है। इनमें बतलाया गया है कि किस तरह भगवदनुकूलता होनेपर धर्म सम्पन्न होता और भगवत्-प्रतिकूलतामें धर्म नष्ट हो जाता है।

पाँच अध्यायोंमें 'अर्थ'-पुरुषार्थका वर्णन है। ध्रुवकी कथा भगवदाश्रयसे अर्थ-प्राप्तिकी कथा है।

ग्यारह अध्यायोंमें पृथुका चरित है। यह 'काम'-पुरुषार्थका वर्णन है।

शेष आठ अध्यायोंमें 'मोक्ष' का प्रसंग है। अष्टधा प्रकृतिसे मुक्ति प्राप्त करनी है, अतः इस वर्णनके आठ अध्याय हैं। इनमेंसे चार अध्याय 'निर्गुण मोक्ष'के हैं तो चार अध्याय 'सगुण मोक्ष'के। विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीयके क्रमसे प्राचीनबर्हिकी कथा और उसमें पुरञ्जनोपाख्यान, ये चार अध्याय निर्गुण मोक्षके हैं। प्रचेताओंकी कथाके चार अध्याय शंकरजीका दर्शन, भगवान् विष्णुका दर्शन, भगवान्की आज्ञासे गृहस्थाश्रम और देवर्षि नारदके सत्संगसे मुक्ति, ये चार अध्याय सगुण मोक्षके हैं।

अर्थ-पुरुषार्थके पाँच अध्याय इसलिए हैं कि पाँच ज्ञानेन्द्रियोंसे अर्थका ग्रहण होता है। धर्म पुरुषार्थके सात अध्याय इसलिए हैं कि यज्ञ 'सप्ततन्तु' होता है। काम पुरुषार्थके ग्यारह अध्याय इसलिए हैं कि पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और एक मनकी प्रधानतासे ही कामका सेवन होता है। विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीयके क्रमसे निर्गुण मोक्षके चार अध्याय तथा वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्धरूप चतुर्व्यूहकी प्रधानतासे अथवा सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सार्ष्टिरूप चतुर्विध मुक्तिकी प्रधानतासे सगुण मोक्षके चार अध्याय हैं।

× × ×

महर्षि अत्रि ब्रह्माजीके पुत्र हैं और उनकी पत्नी अनसूया देवहूतिकी पुत्री हैं। जैसे राजर्षियोंमें मनु-शतरूपाका दाम्पत्य है, वैसे ही महात्माओंमें अत्रि-अनसूयाका दाम्पत्य है। अनसूयाने अपने आपको अत्रिमें मिला दिया। उनमें कहीं दोष-दृष्टिका चिह्न-तक नहीं। फल यह हुआ कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों उनके पुत्र बन गये।

अत्रैव इति अत्रिः—सर्वव्यापक। 'न त्रिः अत्रि—जिसमें त्रिगुण नहीं हैं। इन त्रिगुणातीत ऋषिकी पत्नी अनसूया थी। अनसूया वह, जो किसीके गुणोंमें दोष न निकाले : असूया गुणेषु दोषाविष्करणम्।

ये पति-पत्नी निराकार ईश्वरका भजन करने लगे। फलतः इनके पास कोई देवता नहीं आये। अन्तमें ब्रह्मा, विष्णु, शिव तीनों इन्हें दर्शन देने आये। अत्रिने पूछा : 'मैंने तो एक ही ईश्वरका ध्यान किया था, आप तीन मेरे सामने क्यों आये?'

वे बोले : 'हम तीनों एक हैं। जो एक और अद्वितीय है, वह दर्शनका विषय नहीं होता—बिना तीन बने। त्रिगुणकी उपाधि धारण किये बिना हम दर्शन दे ही नहीं सकते। इसीलिए तीन होकर आये हैं। अब हम तीनों आपके पुत्र बनते हैं। अर्थात् निराकारका ध्यानकर आप निराकार त्रिगुणातीत ईश्वर हो गये, इसलिए हम आपके पुत्र बने।' यह भगवद्ध्यानरूप धर्मका माहात्म्य है।

× × ×

दूसरा प्रसंग है, धर्म और मूर्तिका। आपके जीवनमें धर्म भी चाहिए और मूर्ति भी। सोचते हों कि 'न तो एक पैसा देना पड़े और किसीको हाथ जोड़ना पड़े और धर्मात्मा बन जायँ' तो ऐसे लोगोंसे धर्म कोसों दूर रहता है। द्रव्य और क्रियाके बिना भावकी उत्पत्ति हो नहीं सकती। मनमें किसी निमित्तसे ही तो सारी वृत्तियाँ उदित होती हैं। स्त्रीको देखकर काम, शत्रुको देखकर क्रोध होता है। हम इन्द्रियोंसे विषयको देखते हैं, तब मनमें वृत्ति जागृत होती है। हमारी क्रिया हमारे मनमें ग्लानि या अभिमानका उदय कराती है। अतः धर्मके लिए चाहिए क्रिया और द्रव्य, तो भगवान्‌की आराधनाके लिए चाहिए मूर्ति।

आप तर्क-वितर्कमें मत फँसिये। अधिष्ठानके बिना पूजा नहीं होती। किसीकी भी पूजा होती है तो किसी स्थानमें ही होती है। क्या यह समझते हैं कि मसजिद या गिरजाघर मूर्ति नहीं हैं? जब एक स्थान बना दिया, एक आला बना दिया तो वही अधिष्ठान बन गया। जिसे कभी देखा-सुना नहीं, उस अतीन्द्रिय पदार्थको अन्ततः हम अपने हृदयमें कैसे लायें ?

धर्मकी पत्नीका नाम है, मूर्ति। इससे उत्पन्न होते हैं, नर-नारायण, नर = जीव और नारायण = अन्तर्यामी परमात्मा। वस्तुतः

मन और तन भी पृथक्-पृथक् नहीं हैं। 'ब्रह्मा, विष्णु और महेश एक हैं' का अर्थ है, शरीर और मन तथा उनमें तादात्म्यापन्न जीव तीनों एक हैं।

धर्मानुष्ठानपूर्वक मूर्तिमें जब ईश्वरभाव जागृत किया जाता है, तब वह नारायण बन जाती है और उपासकके नररूपमें नारायण हो जाते हैं। मूर्तिका विवाह हुआ धर्मके साथ, उसके पुत्र हुए नर और नारायण। संसारमें जितनी मूर्तियाँ बनती हैं, उनमें यदि दक्षदृष्टिसे देखा जाय और धर्मानुकूल आचरण किया जाय तो यह विश्वसृष्टि ही नारायणके रूपमें दीखने लगती है। नर-नारायणको शास्त्रमें एक ही मानते हैं : **सत्त्वमेकं द्विधा स्थितम्।**

महाभारतमें कहा है कि : 'जो नर है, वही नारायण है। जो नारायण है, वही नर है। मन और तनमें विशेष भेद नहीं होता। नारायण मनमें बैठे हैं तो नर तनमें। नरत्व यदि आकृति-मूलक है तो नारायणत्व भावमूलक। भाव और आकृतिका परस्पर बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब क्रोध आता है, तो नेत्र लाल हो जाते हैं। आकृतिसे भावका पता चलता है और भावसे आकृतिका। जो शरीरके रूपमें प्रकट है, वही अन्तःकरणके रूपमें भी।

भगवान् हंसने कहा : 'मन, नेत्र, वाणी तथा दूसरी इन्द्रियोंसे केवल मैं ही दीखता हूँ। जो तुम मनसे सोचते हो, वह मैं हूँ। जो नेत्रसे देखते हो, वह मैं हूँ। वाणीसे बोलते हो, वह मैं हूँ। मेरे अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं है। यह बात जल्दीसे जल्दी समझो और सुगमसे सुगम रूपमें इसे समझो।'

८ | शिव-विमुख दक्षतामें पतन

श्रीमद्भागवतमें दक्षके दो रूप कहे गये हैं : एक भगवद्-विरोधी और एक भगवदाश्रित। एक ही जीवनमें दक्षकी ये दो स्थितियाँ हुईं।

यदि भूल या असावधानी सोचें तो बहुत छोटी भूल थी और वह शंकरजीकी नहीं, दक्षकी थी। कभी-कभी बहुत छोटी भूल भी बड़ा उग्ररूप धारण कर लेती है। इसीसे शास्त्र कहते हैं : **मा प्रमदीः**—प्रमाद मत करो।

प्रमादो मृत्युरित्याह भगवान् ब्रह्मणः सुतः।

श्रीसनत्कुमारसे किसीने पूछा : 'मृत्यु क्या है?' तो वे बोले : **न वै मृत्युर्व्याघ्र इवात्ति जन्तून्**—मौत किसीको बाघकी भाँति फाड़कर नहीं खाती। **प्रमादं वै मृत्युरहं ब्रवीमि**—मैं प्रमादको ही मृत्यु कहता हूँ।' अतः मनुष्यको अपने जीवनमें सतत सावधान रहना चाहिए।

आजकल जैसे 'राष्ट्र-निर्माता' शब्द चल पड़ा है, पुराणोंमें 'विश्वस्रष्टा' शब्द चलता है। विश्वस्रष्टाओंकी सभा जुटी थी। उसमें ब्रह्मा और शंकरजी भी थे। अनेक प्रजापति थे। केवल भगवान् विष्णु उस सभामें नहीं थे। तात्पर्य यह कि व्यापकताकी दृष्टि कम थी। जिनमें यह दृष्टि थी भी, वे उसे लिये मौन बैठे थे।

उस सभामें प्रजापति दक्ष आये। सबने उन्हें अभ्युत्थान दिया। सब उठकर खड़े हो गये। हमारी प्राचीन परम्परामें यह शिष्टाचार वर्णित है :

ऊर्ध्वं प्राणाः प्रक्रमन्ति यूनः स्थविर आगते।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते॥

मनुने कहा है: जब युवा व्यक्तिके सामने कोई वृद्ध आता है, तो युवाके प्राण बाहर जाने लगते हैं। पर जब मनुष्य उठकर खड़ा होता और सिर झुकाता है, तो वे प्राण फिर उसके भीतर लौट आते हैं।

यहाँ 'प्राण' शब्दका अर्थ है, क्रियाशक्ति। बड़ोंके सामने मनुष्य घबड़ा जाता है। 'क्या करें, क्या न करें' इस गड़बड़ीमें पड़ जाता है। पर उठकर बड़ेका आदर करता है तो उसका वरदहस्त उसे आश्वस्त कर देता है।

दक्षको देखकर दूसरे सब लोग तो उठकर खड़े हो गये थे, पर ब्रह्माजी और शंकरजी बैठे रहे। ब्रह्माजी तो दक्षके पिता थे; किन्तु शंकरजी भी बैठे रह गये, यह दक्षको सहन नहीं हुआ।

वैसे उत्थान देना देनेवालेका कर्तव्य है, वह लेनेवालेका अधिकार नहीं। असावधानी यहाँ दक्षसे हुई। यह गलती है कि मनुष्य चाहे कि अमुक हमें देख उठकर खड़ा हो जाया करे।

शंकरजी तत्त्वदर्शी हैं, अवधूत हैं। वे अपनी मस्तीमें बैठे रहे। लोग दूसरेके उठ खड़े होनेको भी अपना स्वत्व मान लेते हैं। 'अमुक हमें प्रणाम करे' इसे भी अपना हक समझते हैं। किसीसे प्रणाम करवानेकी बात मनमें आनी ही नहीं चाहिए।

दक्षको शंकरजीके उठकर खड़े न होनेसे क्रोध आया। उसने पहले ब्रह्माजीको ही दो-चार सुना दी। बोला : 'मैं इस मर्कट-लोचन शिवसे अपनी बेटी ब्याहनेवाला ही नहीं था; लेकिन इस बुड्ढे ब्रह्माके कहनेपर मैंने ब्याह दी।'

बात तनिक-सी; किन्तु बढ़ गयी। दक्षने शिवजीको देवताओंकी जातिसे बाहर कर दिया। शाप दे दिया : 'एक पंक्तिमें बैठकर भोजन नहीं कर सकते, यज्ञमें शिवको भाग नहीं मिलेगा।'

इससे क्रुद्ध होकर शिवके गण नन्दीश्वरने दक्ष और दक्षके अनुयायियोंको शाप दे दिया, तो दक्षके प्रेमियोंने शंकरजीको शाप दे दिया। राग-द्वेषकी एक शाश्वत परम्परा बन गयी, शैव-वैष्णवोंमें परस्पर द्वेष हो गया। उस समय ऐसा हो जायगा, यह किसीको ध्यानमें भी न था।

एकबार मेरे एक मित्रके घर भाई-भाइयोंमें मुकदमा चला। बड़े भाई मुकदमा जीत गये, पर जीतनेके बाद छोटे भाईके घर गये। बोले : 'भैया! अब क्या विचार है?'

छोटा : 'मैं अपील करूँगा।'

बड़ा : 'अन्ततः तुम चाहते क्या हो? हम-तुम अब दो-चार-दस वर्ष जीकर मर जायँगे; पर यदि तुम मेरी सजा करा दोगे या मैं तुम्हारी सजा करा दूँगा, तो हम-दोनोंकी वंश-परम्परामें शत्रुता हो जायगी। बच्चोंके भीतर यह विष मत घोलो। जो तुम हार गये, वह तुम्हें मैं अपनी ओरसे देता हूँ, पर तुम अपील मत करो। नहीं तो हमारी वंश-परम्परामें यह द्वेष फैल जायगा।'

आग्रहमें संघर्ष है, पर विचारमें संघर्ष नहीं। विचारभेद संघर्षका कारण नहीं होता। एकबार राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन श्री माखनलाल चतुर्वेदीसे बातें करते जा रहे थे और उनकी आँखोंसे आँसू झर रहे थे। वे कह रहे थे : 'स्वर्गीय लाला लाजपतरायने मुझसे एकबार अपने एक बैंककी अध्यक्षता करनेको कहा। मैंने कह दिया : 'आपके मेरे विचार नहीं मिलते, अतः मैं आपकी संस्थाकी अध्यक्षता नहीं कर सकता।'

लालाजी बोले : 'क्या विचार-विचार लगा रखा है। कहीं विचार-भेदसे सेवा करनेमें टकराहट होती है ?'

लड़ना अहंकार है, विचार नहीं।

दक्षके मनमें इतना द्वेष बढ़ा कि वह स्वयं यज्ञ करके यह दिखा देनेको उद्यत हो गया कि यज्ञमें शिवको भाग नहीं मिला। इस यज्ञमें उसकी पुत्री सती मर गयी। वीरभद्रादि शैवोंने आक्रमण कर दिया। यज्ञ भंग हो गया, दक्ष मारा गया। भगवान्‌के आश्रयके बिना कोई धर्म सिद्ध नहीं होता, यह इससे प्रमाणित हुआ।

इसका एक लौकिक अर्थ भी है। सबकी भलाईके लिए जो धर्म होता है वही सिद्ध होता है, क्योंकि सबके हृदयमें ईश्वर बैठा है। जो धर्म किसीको नीचा दिखानेको होता है, वह सिद्ध नहीं होता। उसमें धर्मके नामपर स्वाँग करनेवालेकी मृत्युतक हो सकती है। यही गति अन्तमें दक्षकी हुई।

इसके अनन्तर ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवता—जिनके हाथ-पैर टूट गये थे, चोट लगी थी—शिवजीके पास गये। शिवजी हँसकर बोले : 'हमारे तो कोई भेद ही नहीं है। अच्छी बात है, यज्ञ फिर सम्पन्न हो जाय।'

श्रीमद्भागवतमें इस प्रसङ्गमें यह बात कही गयी है कि 'केवल ब्रह्मा, विष्णु और महेशमें ही अभेद हो, ऐसा नहीं। संसारके किसी भी प्राणीमें किसी भी प्रकारका भेद नहीं है। जो भेद देखता है, उसका धर्मानुष्ठान—**भस्मनि हुतम्** या **कुहकराद्धमिव तमोऽर्याम्** जैसे ऊसरमें बोया बीज नहीं उगता, जैसे राखमें हवन करनेपर हवनका फल नहीं मिलता या जैसे हृदयमें कपट रखकर सेवा करनेसे उसका फल नहीं होता, वैसे ही भगवद्बुद्धि छोड़कर किया उसका धर्मानुष्ठान सफल नहीं होता।

सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त भगवान् विष्णु जब प्रसन्न हुए, तभी दक्ष जीवित हुआ। उसका हृदय अत्यन्त पवित्र हो गया। शिवजीको देख उसे अपनी मृत पुत्रीका स्मरण हो आया। नेत्रोंसे अश्रु बहने लगे। पश्चात्ताप हुआ।

तात्पर्य यह कि ईश्वरके आश्रयसे सर्वात्माकी प्रसन्नताके लिए जो धर्म किया जाता है, वही सिद्ध होता है। इसीका नाम है, भागवत-धर्म। ईश्वरको छोड़कर अहंकारकी पूजाके लिए जो धर्म किया जाता है, वह धर्म भागवत-धर्म नहीं। धर्मके निर्णयकी दृष्टिसे दक्षकी यह कथा बहुत महत्त्वपूर्ण है।

× × ×

इस कथामें सबसे विलक्षण स्थिति सती और शिवकी है। यहाँ बतलाया गया है कि यदि पति और पितामें मतभेद हो तो पत्नीको पिताका पक्ष नहीं लेना चाहिए; क्योंकि उसे पतिके ही साथ रहना है।

सुहृद्दिदृक्षुः परिशङ्किता भवान्
निष्क्रामती निर्विशती द्विधाऽऽस सा। ४.४.१

सतीका मन दो भागोंमें बँट गया था। एक मन कहता : 'माता-पितासे मिलने जा।' दूसरा कहता : 'इससे शंकरजी अप्रसन्न होंगे।'

उस समय सती गलत निर्णय कर गयी। शंकरजीका यह गाम्भीर्य है कि दक्षसे वैमनस्य होनेपर भी सतीको उन्होंने वह बतलाया नहीं। यह पतिका धर्म था। पतिका धर्म है कि पत्नीको कोई ऐसी बात न बतलाये, जिससे उसका चित्त दुःखी हो या अपने पीहरवालोंसे उसकी अनबन हो जाय।

शंकरजीने कहा : 'प्रणाम मिट्टी-पानीके पञ्चभूतके किसी पुतलेको नहीं किया जाता। हम जब प्रणाम करते हैं, तो शालिग्राम शिलाको नहीं, उसमें विराजमान भगवान्‌को करते हैं। ऐसे ही परस्पर प्रणाम-आशीर्वादका व्यवहार भगवद्भावसे होता है। अन्तर्यामीको नमस्कार किया जाता है। मैंने दक्षको नमस्कार नहीं किया तो दक्षने यह क्यों समझा कि मुझे नमस्कार नहीं किया। जो अन्तर्यामी दक्ष था, वही मेरा अन्तर्यामी, यह बात दक्ष नहीं जानता कि हम लोग तो मर्यादासे अतीत, अवधूत हैं। गृहस्थोंकी मर्यादा भिन्न और अवधूतोंकी मर्यादा भिन्न होती है। मनुष्योंका धर्म भिन्न और देवताओंका धर्म भिन्न होता है।'

शंकरजीने बहुत समझाया; किन्तु सती पतिको छोड़कर पिताके घर चली गयीं। फल यह हुआ कि इधर पति समाधि लगाकर बैठ गये, उधर पिताके घर भी आदर-सत्कार नहीं हुआ। सतीको वह शरीर जलाकर दूसरा शरीर धारण करना पड़ा। वे जब पार्वती हुई, तब भागवत-धर्म उनके जीवनमें आया।

६ परम भागवत ध्रुव

एक है सुनीति, दूसरी है सुरुचि। एक महिला अपने घरमें बहुत सुरुचि रखती है। कहीं एक तिनका भी पड़ा न मिले, ऐसी उसकी सुव्यवस्था है। वस्त्र बहुत उत्तम, भोजन बहुत स्वादिष्ट! बच्चेको, घरको सजा-सजाया रखती है, यह सुरुचि है।

सुनीति वह है, जो इस ढंगसे आचरण करती है कि घरमें झगड़ा न हो। कोई अप्रसन्न न हो। बच्चेकी उन्नति हो। पति धर्ममें लगा रहे। धर्माचरणका जो जीवनपर नियन्त्रण है, वह खो न जाय। जिसका नय—आगे बढ़ना, सुष्ठु हो, वह है सुनीति। वह परिणामपर दृष्टि रखती है।

सुनीतिका पुत्र होता है 'ध्रुव' अचल—सदा रहनेवाला। सुरुचिका फल तात्कालिक होता है। उसका पुत्र है 'उत्तम'—उस समय मजा आ गया। सुरुचि तत्काल सुख देती है तो सुनीति स्थायी परिणाम देती है।

सुरुचि और सुनीति महाराज उत्तानपादकी पत्नियाँ हैं। एक दिन महाराज सुरुचिके यहाँ बैठे थे। इतनेमें ध्रुव वहाँ आया। वह पिताकी गोदमें चढ़ने लगा तो राजा चुप रह गये; किन्तु सुरुचिने ध्रुवको डाँटा। बोली : तुम्हें 'पता नहीं कि तुम दूसरी स्त्रीके गर्भसे उत्पन्न हुए हो? तुम्हें राजाकी गोदमें बैठनेका कोई अधिकार नहीं। जाओ, ईश्वरकी आराधना करो।'

श्रीवल्लभाचार्यजीने यहाँ टिप्पणी की है कि यहाँतक बात बहुत उत्तम थी; किन्तु वह तो कहती है : 'ईश्वरकी आराधना करके **मद्गर्भे साधयात्मानम्**। उसे यह भी स्वीकार नहीं कि ईश्वर तुम्हें अपने पिताकी गोदमें बैठनेका वरदान दे सकेगा। उसने कहा यह कि 'आराधना करके मेरे गर्भमें आओ।' इसका अर्थ है, 'आराधना करते-करते मर जाओ। मरनेके बाद दूसरे जन्ममें मेरे गर्भमें आओ, तब तुम्हें राजाका सिंहासन मिलेगा।' इसमें सुरुचिने ईश्वरका तिरस्कार किया। वह कहती है : 'ईश्वर भी तुम्हें राजाकी गोद नहीं दे सकता। राजाकी गोद तो मेरे गर्भमें आनेके बाद ही मिलेगी।' यह ईश्वर आराधनाका तिरस्कार है।

सुरुचिने कहा था व्यंग्यसे, किन्तु ध्रुवके भीतर जो सत्त्व है, उसने उसे यथार्थ रूपमें स्वीकार किया। सुनीतिने भी विरोध नहीं किया। सुनीति चाहती तो कह सकती थी : 'वह मेरी सौत है। राजाको तो उसने मुझसे छीन ही लिया, मेरे पुत्रको भी वनमें भेजना चाहती है।' लेकिन वह सुनीति है। उसने न तो पति या सौतसे झगड़ा किया, न पुत्रको रोका। उसने कहा : 'बात भले ही सौतके मुखकी है, पर है सर्वथा सच। अतः पुत्र ! तुम उसी 'भृत्याश्रय, भृत्यवत्सल' प्रभुका आश्रय लो।'

जैसे ही ध्रुव घरसे निकले, देवर्षि नारद आ गये। जो लोग मनुष्योंका—सेवकोंका, धनका, मोटर-मकानका आश्रय रखते हैं, उन लोगोंको शीघ्र इस बातका अनुभव नहीं होता; किन्तु जब दोनों हाथ उठाकर कोई वनकी ओर चल देता है, निराश्रय हो जाता है, तब पता चलता है कि सहायता तत्काल आती है। ईश्वर कैसे सब लोगोंपर दृष्टि रखता है, इसका मुझे निजी अनुभव है।

बचपनमें मैंने एकबार हिन्दी बाइबिल पढ़ी। उसमें लिखा था : 'जैसे गड़रिया अपनी भेड़ोंकी रक्षा करता है, विशेषतः उस समय, जब वे भटकने लगती हैं, वैसे ही ईश्वर अपने जीवोंकी देखभाल रखता है, विशेषतः तब, जब वे जीव भटकने लगते हैं।'

हम यह नहीं कहते कि आप सचमुच अपनेको अनाश्रित बना लें; किन्तु हम आपको विश्वास दिलाना चाहते हैं कि ईश्वर मनुष्यकी रक्षा करता है; किन्तु मनुष्यको वह रक्षा दिखलाई तब पड़ती है, जब वह अकेला होता है, निराश्रय होता है।

यह भवन, यहाँ बैठे लोग जितने सच्चे हैं, आपका सुनना और मेरा बोलना जितना सच्चा है, उतना ही सच्चा ईश्वर है। ईश्वरका दर्शन होता है, ईश्वरका अनुभव होता है, उससे मिलना-बोलना सब कुछ होता है।

पाँच वर्षका बच्चा ध्रुव राजा और माताको छोड़कर बिना किसी साथी एवं सामानके 'कहाँ जायँ, कैसे रहें, क्या खायें?' इसकी चिन्ता किये बिना घरसे निकला, निकलते ही देवर्षि नारद आकर उसके सामने खड़े हो गये; क्योंकि शास्त्रोंमें नारदजीको 'भगवत्संकल्प' कहा गया है।

आप अपनेको कभी निराश्रय अनुभव न करें। यह धरती आपकी माता है, जिसकी गोदमें आप हैं। ईश्वर आपका पिता है, जिसके नेत्रोंके सामने आप हैं। वह वायु बनकर आपको श्वास दे रहा है, प्रकाश बनकर मार्ग दिखा रहा है।

वही ईश्वर नारद बनकर ध्रुवके सामने आया और बोला : 'अरे, अभी तो तू बच्चा है! जा कहाँ रहा है? लौट जा, लौट जा। मैं तेरे साथ चलता हूँ। राजा तेरा बहुत आदर करेंगे,

गोदमें बैठायेंगे। तुम्हारी माँ तुमसे बड़ा प्रेम करेगी। मैं सुरुचिको डरा-धमका दूँगा, शाप दे दूँगा। चलो, घर चलो!'

ध्रुव बोले: 'जिस मार्गपर चलते ही हमें आपके दर्शन हो गये, उस मार्गसे आप हमें लौटाते हैं? पहले पदपर आप मिले तो दूसरे पदपर भगवान् मिलेंगे, यह अब मुझे पक्का निश्चय हो गया। अब लौटनेवाला तो हूँ ही नहीं।'

देवर्षि नारदने उस पाँच वर्षके बच्चेको दीक्षा दी, द्वादशाक्षर मन्त्रकी। श्रीमद्भागवतके मूलमें यहाँ एक चमत्कार लिखा है कि यदि सात दिन-रात (अखण्ड) इस मन्त्रका जप किया जाय तो दृष्टि इतनी शुद्ध हो जाती है कि जो वस्तु अभी नेत्रोंसे नहीं दीखती, वह भी दीखने लगती है। **पुमान् पश्यति खेचरान्**—आकाशमें अदृश्य घूमनेवाले देवता, सिद्ध आदिको पुरुष देखने लगता है।

ध्रुवने आराधना की। भगवान्की कृपासे ध्रुवको बुद्धि मिली। पाँच वर्षका बालक वह बात कहता है, जिसे आजके बड़े-बड़े ज्ञानी प्रेमसे बोलते-जपते हैं:

योऽन्तः प्रविश्य मम वांचमिमां प्रसुप्तां
सञ्जीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना
अन्यांश्च हस्त-चरण-श्रवण-त्वगादीन्
प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम्॥

४.९.६

'जब यह जीभ सो जाती है तो उसे बोलनेके लिए कौन प्रेरणा देता है; हाथ-पैर, कान-त्वक् आदिको कौन काममें लगानेवाली शक्ति है? मेरे भीतर प्रविष्ट होकर इन सबको शक्ति देनेवाले प्रभो! आपको प्रणाम करता हूँ।'

मनुष्यके मनमें ईश्वरके दर्शनकी आकांक्षा ही उत्पन्न नहीं होती। आज लोग व्याख्यान सुनकर ताली बजा देते हैं कि 'ईश्वर नहीं है।' लेकिन आप कितना विज्ञान जानते हो? इस युगका सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिक आइन्स्टीन कहता है: 'एक ऐसी शक्ति है, जिसके विषयमें हमारा विज्ञान कुछ नहीं जानता।'

हम पूरे निश्चयके साथ कहते हैं कि जो वस्तु हमारे मन और बुद्धिमें आ सकती है, उसका ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष भी हो सकता है।

अप्यसद् प्राप्यते ध्यानात् नित्याप्तं ब्रह्म किं पुनः।

पञ्चदशी

'जो वस्तु संसारमें कहीं न हो, वह भी ध्यानसे प्राप्त हो सकती है।' हमारे भीतर ईश्वरकी दी हुई वह सामर्थ्य है कि हम ईश्वरका साक्षात् प्रत्यक्ष कर सकते हैं। यदि कहें कि 'ईश्वरका प्रत्यक्ष नहीं होता' तो आप कौन हैं, यह सोच लें। नास्तिक बेचारा तो दूसरों-की बुद्धिका, अन्ध-श्रद्धालु है। दूसरोंसे सुन-सुनाकर मानता है कि ईश्वर नहीं है। किन्तु परमात्मा आस्तिकता-नास्तिकतासे परे है।

जो लोग भगवान्‌का भजन करते हैं, उन्हें भगवान्‌का दर्शन, भगवान्‌का अनुभव होता है। साकार भगवान्‌का दर्शन और निराकार भगवान्‌का अनुभव होता है। निराकार रूप अनुभाव्य है। आकृति दोनोंमें है; क्योंकि निराकार भी एक आकृति है, कारण वह साकारसे विलक्षण है। साकार भी एक आकृति है; क्योंकि वह निराकारसे विलक्षण है। तत्त्वदृष्टिसे देखनेपर निराकार भी साकार ही है। निराकार-साकारका जो दर्शन है, दोनोंका जो ज्ञान है, वह देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न साक्षात् ब्रह्म है—जिसमें निराकार और साकार दोनों खेलते हैं।

ध्रुवको भगवान्‌का दर्शन हुआ। फिर राज्य मिला। उत्तम और सुरुचि मारे गये। इस निमित्तको लेकर ध्रुवका कुबेरसे युद्ध छिड़ गया। तब वहाँ स्वयं भगवान् मनु आये। युद्धसे क्या अनर्थ होता है, इसका वहाँ श्रेष्ठ वर्णन है।

श्रीमद्भागवतमें इस युद्धको ध्रुवकी गलती कहा गया है। मनुने कहा : 'बेटा ! किसी यक्षने तुम्हारे एक भाईको मार दिया, पर उसे न कुबेरने मारा, न उस यक्षने कुबेरकी आज्ञासे मारा। मान लो कि उसने दुष्टतासे मारा; किन्तु एकके अपराधके कारण तुमने बहुतोंको मार डाला, यह युद्धका दोष क्या तुम्हारी दृष्टिमें नहीं आता ? जिसके चित्तमें क्रोध और द्वेषका निवास है, उसके चित्तमें तो शत्रुका निवास है।'

ध्रुव तत्काल सम्हल गये। युद्ध बन्द कर दिया उन्होंने।

व्यंग्यसे ध्रुवकी यात्रा प्रारम्भ हुई। नारदोपदेशवश सच्ची लगनसे साधना होने लगी। साधना होनेपर भगवान्‌की प्राप्ति हुई। भगवत्प्राप्ति होनेपर लौकिक राज्य भी मिला। साम्राज्यमें जो सहज दोष है, वह ध्रुवमें भी आ गया—एकके अपराध करनेपर वे बहुतोंके वधमें प्रवृत्त हो गये। यह मानव है, अर्थात् मानवताका मूलरूप ध्रुवमें भी आया। लेकिन मानवताका शुद्ध रूप युद्ध या संघर्ष नहीं यह मनुने उसे समझाया।

आश्चर्यकी बात कि जब ध्रुवके मनसे क्रोधकी वृत्ति मिट गयी। तो कुबेर स्वयं ध्रुवके पास आये और बोले : 'ध्रुव ! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हुआ कि तुमने अपने पितामहकी शिक्षा मानी।

यस्त्वं पितामहादेशाद्वैरं दुस्त्यजमत्यजः।

दुस्त्यज वैरको तुमने छोड़ दिया। तुम सन्त-देवर्षि और भगवान्‌के कृपापात्र हो। मैं भी तुमपर कृपा करता हूँ। क्या चाहिए, माँग लो !'

ध्रुव : 'मुझे जो भगवान्‌की भक्ति मिली थी, परसों-तरसों क्रोध आनेसे वह चली गयी। चाहता हूँ कि वह फिर कभी मेरे चित्तसे न जाय—हमारी भक्ति अचल हो जाय।'

इस घटनाके बाद भी ध्रुवने बहुत दिन राज्य किया। अन्तमें उन्होंने मृत्युके सिरपर पैर रखकर ध्रुव-पदारोहण किया।

एक दिन नारदजीने सोचा : मेरे शिष्यको सबसे ऊँची स्थिति मिल गयी, तो वह वहाँ कैसे रहता है, यह देखना चाहिए।

यह कथा नृसिंह-पुराणमें है। नारदजी वहाँ पहुँचे तो देखा कि ध्रुवके नेत्रोंसे अश्रुधारा बह रही है। देवर्षिने पूछा : 'अर्थदृष्टिसे जहाँतक कोई जा सकता है, तुम उस सीमातक तो पहुँच गये। अब क्या चाहिए ? मेरे द्वारा साधन मिला, भगवत्कृपासे ज्ञान मिला। उच्च पद मिला, क्रोधादि मिटकर अन्तःकरणकी शुद्धि हुई। अब क्या चाहिए ?'

ध्रुव : 'मुझे यह बात खटकती है कि जिस परमात्मपदकी प्राप्तिके लिए सहस्रों वर्षतक बड़े-बड़े लोग राज्य छोड़कर तप करते हैं, उस प्रभुकी उपासना मैंने सकामभावसे की।'

देवर्षिने उन्हें समझाया। यहाँ भागवत जीवनमें अर्थका निषेध नहीं हुआ। भोगका भी निषेध नहीं है। ध्रुवके कई पुत्र हुए। उनमें से एक उत्कल तो जन्मसे ही योगी, जीवन्मुक्त हुआ।

भले ही संन्यास-धर्म और वानप्रस्थ-धर्ममें जंगलमें रहना या गुफामें रहना आवश्यक हो; किन्तु भागवत-धर्ममें यह कुछ आवश्यक नहीं। महाराष्ट्रके लोग भागवत-धर्मसे विशेष परिचित हैं। यहाँ 'वारकरी'-सम्प्रदायकी पूरी परम्परा भागवत धर्मकी है। श्रीज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम, समर्थ रामदास आदि महाराष्ट्र-सन्तोंकी पद्धति ज्ञान और भक्तिका समन्वय रूप ही है।

ध्रुवके जीवनमें तो यह स्पष्ट देखनेको मिलता है कि पहले मिले भगवन् और फिर मिला राज्य। अर्थात् भगवान्‌की भक्ति और राज्यमें कोई विरोध नहीं है। फिर विवाह हुआ। इससे सिद्ध है कि भगवान्‌की भक्ति और विवाहमें भी विरोध नहीं है। ध्रुवने फिर किया युद्ध, अर्थात् भागवत-धर्म और युद्धमें भी विरोध नहीं। आवश्यकता पड़नेपर भगवदिच्छानुसार यदि युद्धमें कूदना पड़े तो हिंसा-अहिंसा दोनोंके सञ्चालक प्रेरक भगवान् ही हैं, यह भक्त समझता है। अतः युद्ध करके ध्रुवके मनमें कोई ग्लानि नहीं हुई। वे जानते हैं कि हमारे हृदयमें बैठे प्रभुकी ही यह लीला है। इस लीलाका अन्त यह हुआ कि जिनसे वे युद्ध कर रहे थे, उन्होंने ही वरदान दिया : 'तुम्हारे हृदयमें भगवान्‌की अचल भक्ति हो !'

तात्पर्य यह कि ऐश्वर्यके साथ, विवाहके साथ, युद्धके साथ भी भागवत-धर्म रहता है। वह केवल निवृत्तिपरायण लोगोंका ही धर्म नहीं है। उसे निवृत्ति-परायण और प्रवृत्ति-परायण दोनों ही अपनाते हैं। निवृत्ति-परायण शुकदेवजी भी भागवत-धर्मी हैं और प्रवृत्ति-परायण ध्रुव भी भागवत-धर्मी।

ध्रुवको जब ध्रुव-धाम जाना था तब उनके पास भगवान्‌के पार्षद विमान लेकर आये। किसी शरीरधारीकी मृत्यु होती है तो वह लोकान्तरको जाता है; किन्तु ध्रुवकी मृत्यु कैसे हो ? ध्रुव और मृत्यु परस्पर विरोधी शब्द हैं। जो ध्रुव हो गया, वह मरेगा नहीं और जो मरेगा, वह ध्रुव नहीं होगा !

ध्रुवने स्नान किया, जप किया, तर्पण किया, फिर पास-पड़ोसके महात्माओंके जितने आश्रम थे, उन सबके यहाँ गये, सबसे अनुमति लेकर आये। इसके बाद पार्षदोंसे पूछा : 'आप सब मेरे लिए तो विमान लेकर मुझे वैकुण्ठ लिवा जाने आये हैं; किन्तु मेरी माँका क्या हुआ ?'

एक संन्यासी विमानपर चढ़ते समय नहीं पूछता कि 'मेरी माँका क्या हुआ !' संन्यासी ब्रह्माकारवृत्ति होता है। योगी निर्विषय चित्त करेगा, पर भागवत-धर्ममें माताकी स्मृति वैकुण्ठ जाते समय भी है। जब विष्णु भगवान् लक्ष्मीजीके साथ, शिवजी पार्वतीके साथ, श्रीकृष्ण श्रीराधाके साथ रहते हैं, अर्थात् मातृ-भक्ति हमारे आराध्यके साथ रहती है, तो भागवत-धर्ममें स्त्रीका विरोध कहाँसे होगा ?

पार्षदोंने कहा : 'आप चिन्ता न करें। भगवान्‌ने आपकी माताकी चिन्ता पहले ही की है। आप तो अब उनकी चिन्ता कर रहे हैं। भगवान्‌ने पहले ही तय कर लिया कि जिस माताको ध्रुव जैसा पुत्र हुआ, उसे पहले ही वैकुण्ठ आ जाना चाहिए।'

पुत्रके भक्त होनेसे माताका भी कल्याण हो जाता है, यह भागवत-धर्म है। पार्षदोंने बतलाया : 'अभी आपका विमान तो चला भी नहीं है, पर आपकी माताका विमान आगे चला जा रहा है।

× × ×

भागवत-धर्म बहुत कोमल है, वह द्वेषके साथ नहीं रहता। किसीके प्रति भी द्वेष हो, भागवत-धर्म हृदयमें नहीं रहेगा। एक साथ एक हृदयमें द्वेष और प्रेम रह नहीं सकते। द्वेष जिसके प्रति है, वह भले सर्प हो, चूहा हो, चोर या डाकू हो; हिन्दू या मुसलमान, दुष्ट या पापी, कोई हो; किसीके प्रति भी हृदयमें द्वेष होगा तो उसमें प्रेम निवास नहीं कर सकता। इसलिए द्वेषको हृदयसे निकालकर ही वहाँ भागवत-धर्मकी प्रतिष्ठा होती है।

सुनीतिका अपने पुत्रसे अत्यन्त प्रेम होनेके कारण ध्रुवके मुक्त होनेसे ही मुक्त हो गयी। सुरुचिके मनमें द्वेष था। अतः उसमें भागवत-धर्म जागृत नहीं हुआ।

१० ‖ वेन : नास्तिकताका पिता

ध्रुवके वंशमें एक बहुत बड़ा अधर्मी उत्पन्न हुआ। उसका नाम था, वेन। ध्रुवके पवित्र वंशमें यह कहाँसे आगया ? बात यह थी कि मृत्युकी पुत्री सुनीथाका विवाह राजा अंगसे हुआ। अंग-सुनीथाके संयोगसे जो बच्चा हुआ, वही था वेन। पिता-पितामहके वंशमें तो कोई दोष नहीं, पर नानाका दोष वेनमें आ गया।

कहा है कि मनुष्यमें तीन प्रकारकी शुद्धि होनी चाहिए :

त्रीण्यस्यावदातानि योनिर्विद्या च कर्म च।
एतच्छिवे विजानीहि ब्राह्मणाग्र्यस्य लक्षणम् ॥

—व्याकरण-महाभाष्य

१. रजो-वीर्य शुद्ध हो, यह आधिभौतिक शुद्धि है। इसे 'योनि-शुद्धि' कहते हैं। माता तथा पिता दोनोंमें अनुवंशकी शुद्धि होनी चाहिए। परनाना, नाना, माता, पिता तथा परदादा एवं पिताका प्रभाव शिशुमें आता है। अपने देशमें पहले विवाह करते समय विचार किया जाता था कि जिस वंशमें हम विवाह कर रहे, हैं, वह वंश कैसा है।

२. सन्ध्या-वन्दन, गायत्री-जप, देवोपासना 'विद्या' कहलाती है। यह आधिदैविक शुद्धि है।

३. शम, दम, उपरति, तितिक्षा आदि श्रेष्ठ सद्गुणोंका जीवनमें रहना आध्यात्मिक शुद्धि है।

राजा वेन इसीलिए अधर्मी हो गया कि उसकी माताका वंश अशुद्ध था।

एक महात्माने एकबार मुझे समझाया था : 'मान लो कि तुम्हारी सब इच्छाएँ पूरी होने लग जायँ, तो क्या ईश्वरकी सत्ता-महत्ताका पता तुम्हें लग सकता है ?'

कभी-कभी हमारी इच्छाके विपरीत होता है, तब पता लगता है कि दूसरा भी कोई है। माताको अधिकार होता है कि वह अपने पुत्रको डाँटे। मनुष्यके अपने ही मनकी होती रहे तो वह भारी अहंकारी बन जायगा। मनुष्य एक तो है नहीं, अनेक हैं। सबकी इच्छाएँ परस्पर टकरायेंगी और तब संघर्ष होगा। दुःखकी वृद्धि होगी। अतः इच्छाओंका एक नियन्ता अवश्य है।

ध्रुवके वंशमें राजा अंग हुए। उन्होंने यज्ञ किया तो देवता उनके यज्ञमें नहीं आये। पुरोहितोंसे पूछा गया : 'देवता यज्ञमें क्यों नहीं आये ?'

सदसस्पतियोंने ध्यान करके बतलाया : 'राजाके कोई पुत्र नहीं है।' तात्पर्य यह कि देवता चाहते हैं कि इसके कोई पुत्र होगा तो आगे भी यज्ञ-हवन करेगा, हम लोगोंकी सेवा होती रहेगी। जहाँ एक ही बारकी बात है, वहाँ क्यों जायँ ?'

यज्ञ करके सन्तान पानेका निश्चय हुआ। पहले यज्ञरूप प्रयोग करके सन्तान प्राप्त कर लेनेकी प्रथा थी। राजा अंगने पुत्रेष्टि यज्ञ किया। सफलता मिली, पुत्र हो गया।

राजा सोचते थे : 'पुत्र होगा तो हम सुखी होंगे। आगे भी यज्ञ-हवन होता रहेगा, इस आशासे देवताओंने अंगके यज्ञमें आना स्वीकार किया; किन्तु भगवान्‌ने राजा अंगकी इच्छाके साथ

और देवताओंके साथ भी खिलवाड़ किया। राजा अंगको जो पुत्र हुआ, जिसपर राजा और देवताओंको भरोसा था, उसके दु:खसे राजाको घर छोड़कर वन चला जाना पड़ा स्वयं तो यज्ञ करना दूर, वेनने दूसरोंको भी रोक दिया। उसने घोषणा करावा दी :

न यष्टव्यं न दातव्यं न होतव्यं द्विजाः क्वचित्।

'ब्राह्मणो! कभी भी यज्ञ मत करो, दान मत दो, हवन न करो।'

देवता मूर्ख हैं और मनुष्य मूर्ख हैं, जो सोचते हैं कि अमुक हमारी सेवा करेगा। सर्वान्तर्यामी ईश्वर जिसे जैसी प्रेरणा देता है, जिसमें जैसे संस्कार होते हैं, वह वैसा करता है। यह हमारे निःसंकल्प होनेके लिए कितना बड़ा आधार है!

वेन अत्यन्त नास्तिकके रूपमें प्रकट हुआ। राजाने उसे समझानेका बहुत प्रयत्न किया, लेकिन पुत्रने एक न मानी। यह मोह ही है, जो पुत्रको पिता अपनी इच्छानुसार चलाना चाहता है। जैसे प्रत्येक बीज पृथक्-पृथक् विकसित होते हैं, वैसे ही प्रत्येक जीवकी एक इकाई होती है। उसके साथ उसके संस्कार होते हैं। जब माता-पिता पुत्रको, पुत्र पिताको, सास बहूको चलाना चाहती है, तो ये ईश्वरका स्थान ग्रहण करना चाहते हैं। ईश्वरका स्थान लेनेके प्रयत्नमें कष्ट पाते हैं।

राजा अङ्गको बड़ा दु:ख हुआ कि वेन पुत्र होकर हमारी बात नहीं मानता। एक बार रात्रिमें वे विचार करने बैठे। अन्ततः ध्रुवके वंशमें उत्पन्न हुए थे, इस लए भगवद्भावका उदय हुआ। सोचने लगे—'यह तो भगवान्‌ने बड़ी कृपा की जो हमें ऐसी सन्तान दी :

कदपत्यं वरं मन्ये सदपत्याच्छुचां पदात्।

बुरी सन्तान तो बहुत अच्छी है; क्योंकि अच्छी सन्तान होनेपर उसमें मोह हो जाता। भगवान्‌ने तो मुझे विरक्त बनानेके लिए ही ऐसी सन्तान दी।'

एकबार मैंने श्री उड़िया बाबाजी महाराजसे एकान्तमें कहा : 'आप जिन लोगोंमें रहते हैं, वे तो सब शंकरजीके गण ही मालूम पडते हैं।'

बाबा : 'ठीक है। मैं सबकी बात समझता हूँ।'

मैं : 'तब ऐसे लोगोंमें क्यों रहते हैं?'

बाबा : 'ऐसे लोगोंमें रहनेसे अपनी असंगता बनी रहती है। बहुत अच्छे लोगोंमें रहनेसे उनमें आसक्ति हो जाती है।'

राजा अङ्गको वैराग्य हुआ। वे बिना पुत्रको राज्य दिये और बिना पत्नीको सूचना किये ही रातको घरसे निकल गये।

अब राज्यमें कोई राजा नहीं रहा। सब महात्मा एकत्र हुए। बोले : **नश्येत् त्रयी दण्डनीतौ हतायाम्**—'शासनके बिना मर्यादा नहीं रह पाती।' शासन न हो तो मर्यादाका नाश हो जाता है, क्योंकि कुछ लोग स्वाभाविक रूपसे मर्यादानुसार सत्कर्म करते हैं, कुछ लोग लोभसे, तो कुछ लोग भयसे करते हैं।

भगवान्‌ने मनुष्यको जो लोभ और भयवृत्ति दी है, वह निन्दनीय नहीं है। श्री श्रीप्रकाशजीके पिता डाक्टर श्री भगवानदासजी कहते थे : 'जिस मनुष्यके मनमें लोभ और भय ये दो वृत्तियाँ नहीं हैं, वह यदि ईश्वरको न माने तो मैं उसीको ईश्वर स्वीकार करनेको तैयार हूँ।'

मनुष्यका सबसे बड़ा लोभ यह है कि 'हमें ईश्वरप्राप्ति हो जाय।' सबसे बड़ा भय यह है कि 'बुरा काम करनेपर ईश्वर

मुझे दण्ड देगा।' लोभ और भय हमें दाहिने-बाँयें, आगे-पीछे गिरनेसे सम्भाले रहते हैं। लोभ और भय ही हमें मर्यादामें रखते सम्भाले हुए सत्पथपर ले चलते हैं।

प्रजा असम्मतं वेनमभ्यसिञ्चन् पतिं भुवः।

अर्थात् प्रजाको वेनका राजा होना पसन्द न था, फिर भी बड़े-बड़े विद्वानोंने एक होकर कहा : 'पदपर पहुँच जानेपर उत्तरदायित्व आ ही जाता है। कभी-कभी मनुष्य उससे सुधर जाता है।'

सचमुच राजा होनेपर वेनने चोर-डाकुओंका तो उन्मूलन ही कर दिया। वह बड़ा उग्रदण्ड था। किन्तु उसने 'भेरीघोषेण' घोषणा करवा दी कि 'मेरे अतिरिक्त कोई ईश्वर नहीं। दान मत दो! यज्ञ मत करो! हवन मत करो।'

ईश्वर, धर्म, वेद और ब्राह्मण, ये वैदिक-धर्मके स्तम्भ हैं। जिस राज्यमें ईश्वरके प्रति आस्था नहीं होगी, उसमें राजाके प्रति भी आस्था नहीं रहेगी। जिस राज्यमें शाश्वत संविधान—ईश्वरीय विधानके प्रति आस्था नहीं होगी, उस राज्यमें राज्यके संविधानके प्रति भी आस्था नहीं रहेगी। संविधानके प्रति आस्था ही मूल है।

हमारे मनमें काम, क्रोध, लोभ आता है। उसे नियन्त्रित करनेके लिए शाश्वत संविधान होता है तो हमारे शरीरसे जो चोरी, जारी, हत्या आदि होते हैं, उन्हें नियन्त्रित करनेके लिए लौकिक संविधान होता है। जब मानसिक-चिकित्सापर प्रतिबन्ध लग गया, तब तन रोगी होनेसे कैसे बचेगा? संविधानपर अनास्था होनेसे मर्यादापर अनास्था होगी ही। फलतः जीवन उच्छृङ्खल हो जायगा।

यदि ब्रह्मविद्‌पर अनास्था होगी तो संसारमें बुद्धिका, ज्ञानका लोप हो जायगा। इसलिए ईश्वर, धर्म, वेद, ब्राह्मण तथा अपनी पवित्रतापर ध्यान रखनेपर ही धर्मकी मर्यादा चलती है।

एक वेदज्ञ मनुष्य चाहे तीन घण्टे रोज मन्दिरमें बैठकर पूजा करे, सूती वस्त्र न छुए, रेशमी वस्त्र ही पहने, अपरस माने; परन्तु बेईमानीका व्यापार करे, दूसरोंको सताये तो उसका अपरस मनाना, पूजा करना व्यर्थ है। श्रीमद्भागवतमें स्पष्ट कहा है :

यमानभीक्ष्णं सेवेत नियमान् मत्परः क्वचित्।
यमान्यतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्॥

यदि मनुष्य केवल नियमोंका पालन करे और यमोंका—सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहका पालन न करे तो उसका पतन हो जाता है। ये सत्यादि यम नित्य हैं और शौचादि नियम हैं अनित्य। नियमोंको देश-कालादिके अनुसार हम बदल सकते हैं। माला चारके स्थानपर तीन बार फेर सकते हैं। स्नान तीन बारके स्थानपर एकबार कर सकते हैं। बहुत ठण्डे स्थानपर जलके बिना भस्म-स्नान या मन्त्र-स्नान कर सकते हैं; किन्तु यदि जीवनसे अहिंसा, अस्तेय आदि चले गये तो धर्मकी प्रतिष्ठा नहीं रह सकती।

जब महात्माओंने देखा कि वेन तो धर्मका तिरस्कार कर रहा है, तो भृगु आदि तेजस्वी महर्षि उसके पास पहुँचे और समझाने लगे :

'संसारमें तारतम्य दीखता है—एक व्यक्ति तेजस्वी है तो दूसरा नहीं। एक गाय अधिक दूध देती है तो दूसरी कम। जुगनू कम चमकता है तो सूर्य अधिक। फलतः जिसमें सबसे अधिक तेज है, वह ईश्वर है। अपने इस शरीरमें असंख्य कीटाणु हैं, किन्तु

पूरे शरीरका 'मैं' एक ही होता है। ऐसे ही पूरे विश्वमें अनेकता है, पर उस अनेकतामें एक ईश्वर है। यदि कर्मका फल देनेवाला कोई न हो तो किसीको दुःख ही न हो। यदि मनुष्य पूर्णतः स्वतन्त्र हो तो संसारमें न किसीको दुःख हो, न किसीकी मृत्यु; क्योंकि कोई भी स्वतन्त्र व्यक्ति न दुःख चाहता है, न अपनी मृत्यु। जब एक मनुष्य अपना मरण और अपना दुःख स्वीकार करता है, तो उसे ईश्वर स्वीकार करना ही पड़ेगा। जो दुःख देने मृत्यु और देनेमें, स्वतन्त्र है, उसे अस्वीकार कैसे कर सकते हैं? जैसे नेत्रसे बाहरकी वस्तु देखनेको प्रकाश चाहिए, वैसे ही भीतरकी वस्तु देखनेको भी प्रकाश चाहिए और जो भीतर प्रकाश दे रहा है, वही परमेश्वर है।'

लेकिन वेनने महात्माओंकी बुद्धिमानीसे भरी इन बातोंका आदर नहीं किया। वह तो 'लोकधिक्कार-संदग्ध' था—'इसने हमारा लोक छुड़ा दिया, ईश्वर परसे हमारी आस्था कम कर दी। इसने हमारी धर्म-संस्कृति नष्ट कर दी' इस प्रकार लोगोंके मनमें वेनके प्रति जो तिरस्कार था, उसीसे वह जल चुका था। बस, अब महात्माओंके मुखसे केवल 'हूँ' शब्द निकला और वेन मर गया।

महात्माओंने सोचा—'राजा होता है तो बहुत दुःख देता है, अतः प्रजाको उसकी बुद्धिपर छोड़ दिया जाय। अब बिना शासकके ही रहो।'

वेनकी माता सुनीथाने पुत्रके शवको जलाने नहीं दिया। उसने वेनके शवको सुरक्षित रख लिया। इसी शवके मन्थनसे आदिराज पृथुका आविर्भाव हुआ।

वेनके मरनेपर कोई राजा नहीं बनाया गया। राजा या प्रशासक न रहनेसे समाज अस्त-व्यस्त हो गया। जहाँ देखो, वहीं धूल उड़ती दीखती, लोग दौड़ते-भागते। कहीं स्थैर्य ही नहीं। जिनकी वृत्ति एवं प्रवृत्ति नियन्त्रित करनेके लिए शासन आवश्यक था, वे चोर-डाकू और उन्मुक्त हो गये। वे दुर्बल, असहाय लोगोंको लूटने-मारने लगे।

यह सब देख महात्मा लोग एकत्र हुए। बोले : 'एक राजा था तो उसने धर्म-मर्यादाका नाश कर दिया और जब राजाको हटाकर प्रबन्ध प्रजाके विश्वासपर छोड़ दिया तो प्रजा उच्छृंखल हो गयी, 'जिसकी लाठी, उसकी भैंस!' अतः दूसरा राजा बनाना ही पड़ेगा।'

प्रश्न उठा : 'पर वह राजा कैसा हो?'

'राजा ऐसा हो जो विश्वके विशिष्ट विद्वानों द्वारा नियन्त्रित, सञ्चालित एवं निर्देशित रहे।'

वेनका मृत शरीर सुनीथा (वेनकी माता) ने सुरक्षित रख ही लिया था। महात्माओंने उस शरीरका मन्थन किया। यह सृष्टिका नियम है कि प्रत्येक वस्तुमें गुण और दोष दोनों होते हैं। यदि अनुलोम-प्रतिलोम दोनों तत्त्व न हों, तो सृष्टिका व्यवहार ही चल नहीं सकता।

एक व्यक्ति श्रीकृष्ण-दर्शन चाहता है, उसे समाधि लग जाय तो समाधिसे उठकर श्रीकृष्णमें लगेगा। एक व्यक्ति समाधि लगाना चाहता है, उसके मनमें बार-बार कोई देवता आ जाता है तो वह उसे विघ्न समझकर हटाता है। हम जो चाहते हैं, उससे भिन्न स्थिति विघ्न हो जाती है।

सबमें सब है, यह भारतीय सिद्धान्त है—जड़में भी चेतना है और चेतनमें भी जड़त्व। अनेकमें एक है और एकमें अनेक।

महात्माओंने वेनके शरीरका मन्थन कर उसमें से दोषको अलग कर दिया। फिर उन्होंने वेदकी बाहुका मन्थन किया। यदि उस शरीरसे ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण निकालना होता तो मुखका मन्थन किया जाता। निकालना था, राजा—क्षत्रियपर अतः बाहुका मन्थन किया गया। भगवान्‌की पालिनी शक्तिका नाम ही 'बाहु' है।

बाहुके मन्थनसे पृथु प्रकट हुए तो कहा गया : 'ये साक्षात् भगवान् हैं।'

पृथुके प्रकट होते ही सम्पूर्ण विश्वने उनका आदर किया।

यहाँ श्रीमद्भागवतमें इसका विवेचन है कि महात्माओंका इस झमेलेमें पड़ना उचित था या नहीं ? भृगु आदि तत्त्वज्ञ महर्षि जब देखते हैं कि लोकका बहुत बड़ा अहित हो रहा है, तो हस्तक्षेप करते हैं। वेनमें जो हित निहित था, उसे अभिव्यक्त करनेका साधन ही यह मन्थन था।

पृथुके प्रकट होनेपर हाथ जोड़कर बन्दी लोग उनकी स्तुति करने उनके सामने खड़े हुए। पर जो लोग चाटुकारोंके बीच पड़ जाते हैं, वे अहंकारी हो जाते हैं। अतः पृथुने उन लोगोंको मना कर दिया।

भक्तोंका तो स्वभाव ही होता है कि कोई उनकी स्तुति-प्रशंसा करने लगे तो वे लज्जित हो जाते हैं :

लज्जन्ते दुरितोद्यमादिव निजस्तोत्रानुबन्धादपि
अप्रेक्ष्य क्लममात्मनो विदधति प्रीत्या परेषां प्रियम्।

अपना श्रम, अपना क्लम देखे बिना वे बड़े प्रेमसे दूसरोंका भला करते हैं। कोई प्रशंसा करने आये तो उन्हें ऐसा डर लगता है, जैसे हम कोई महापाप करने जा रहे हैं।

विद्यावित्तकुलादिभिस्तु बहुशो यान्ति क्रमान्नम्रतां
रम्या कापि सतामियं विजयते नैसर्गिकी प्रक्रिया॥

जितनी विद्या, जैसा वंश, जैसा धन, उसके अनुसार ही वे ज्यादासे ज्यादा झुकते हैं। सत्पुरुषोंका यह सहज स्वभाव है।

पृथुने कह दिया : 'वे दूसरे होते हैं जो अपनी झूठी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न होते हैं, हम नहीं सुनेंगे।' यह सद्गुण है; क्योंकि जो अपनी स्तुति अधिक सुनेगा, वह अपनेको भूल जायगा। ऐसे ही लोगोंकी दुर्बलता देखकर, उनकी नस पकड़कर लोग उन्हें अपने मनके अनुसार चलाते रहते हैं।

सूत, मागध, बन्दियोंने महात्माओंसे कहा : 'हमारी तो जीविका गयी। राजा स्तुति सुनता ही नहीं। हम क्या करें?'

महात्मा बोले : 'तुम लोग जाकर इन्हें यह सुनाओ कि आप आगे यह-यह करेंगे। इससे जीवनमें जो अच्छे गुण आने चाहिए, वे आयेंगे।'

इस प्रकार पृथुके जीवनमें जो भविष्य आनेवाला था—वह उन लोगोंने बतलाया।

इससे आप कुछ सीख सकते हैं। अपने पुत्रको आप यह न कहें कि 'तुम मूर्ख हो।' यही कहें कि 'तुम विद्वान्, बुद्धिमान् बनोगे, देशकी सेवा करोगे, उन्नति करोगे।' इससे उसे प्रोत्साहन मिलेगा। वह वैसा बननेकी प्रेरणा पायेगा। उसे अनुत्साहित करेंगे, निराश करेंगे तो उसमें हीनत्वका भाग आयेगा। अपने पुत्रकी उन्नतिमें स्वयं आप प्रतिबन्ध बन जायँगे।

× × ×

पृथुको आदिराजा माना जाता है, क्योंकि उनके पहले ग्राम-नगरादिकी रचना नहीं हुई थी। जिसे जहाँ अनुकूल पड़ता, वह वहीं रह लेता। कोई पहाड़में रहता, तो कोई वनमें। होता यह था कि जहाँ जल-फल सुलभ होता, वहाँ बहुत लोग एकत्र हो जाते। उन दिनों वर्षा कम होती और अन्नकी भी उत्पत्ति नहीं होती थी। देशमें अकाल था। राजा पृथुके सामने पहली समस्या यह आयी कि प्रजा भोजन क्या करे? उन्होंने कहा : 'हम पृथ्वीको छिन्न-भिन्न कर देंगे। जो पृथ्वी लोगोंको भोजन नहीं देती, उसे ऐसा नहीं रहने देंगे।'

राजाका दृढ़ निश्चय देख पृथ्वी स्वयं उसके सामने प्रकट हुई। प्रत्येक पदार्थके देवता होते हैं और चाहे जिस जड़ वस्तुमें देवताका दर्शन हो सकता है। कोई चन्द्र या सूर्यलोकसे हमारे शरीरको देखे तो हमारा शरीर दीखेगा ही नहीं। ऐसे ही हम अपनी इन्द्रियोंसे जिन वस्तुओंको देखते हैं, उनमें चेतना कहाँ छिपी है, यह पता नहीं लगता। फिर भी पृथ्वी, जल, अग्नि वायु सबमें चेतना होती ही है।

पृथुके सामने पृथ्वीकी अधिष्ठात्री देवता प्रकट हुई। उसने कहा : 'महाराज, जबसे सृष्टि प्रारम्भ हुई, तबसे अनेक बार दुर्भिक्ष

पड़ा है। बड़े-बूढ़े लोगोंने उस समय जो प्रयोग करके वर्षा करवायी, जैसे उन्होंने जलाशय बनावाये, जो प्रयोग करके अन्नकी उपज बढ़ायी, आप भी उस सनातन मार्गका अनुसरण क्यों नहीं करते ? हमपर रुष्ट क्यों हो रहे हैं ?'

पृथ्वीने आगे कहा : **समा च कुरु मां राजन्।** 'मैं जहाँ ऊँची-नीची हूँ, वहाँ बराबर कर दीजिये। ऋतु न होनेपर भी पानी मिल सके—सिचाई हो सके, ऐसी व्यवस्था क्यों नहीं करते ? **दृष्टाः योगाः प्रयुक्ताश्च**—बड़े-बूढ़ोंने इसके सम्बन्धमें जो उपाय किये हैं, उनके अनुसार करनेपर ही आपको लाभ होगा। उन बड़े लोगोंने जैसे खेती की है, वैसे खेतीका प्रबन्ध कीजिये।'

पृथ्वीकी बात मानकर पृथुने वैसी व्यवस्था की। उन्होंने अपने राज्यमें जितने बीज जड़ या चेतन थे, सबको आहार देनेका निश्चय किया। सर्प, बिच्छू आदि सबकी जातियाँ जीवित रहें, ऐसा प्रबन्ध कर दिया।

संसारमें जितने प्राणी और जितनी ओषधियाँ हैं, सबकी सृष्टिमें आवश्यकता है। हम लोगोंके यहाँ खेतोंमें चूहे बिल बना लेते हैं। अपने बिलोंमें वे अन्नकी बालें ले जाकर इकट्ठा करते हैं। कभी-कभी एक-एक बिलमें मन-डेढ़ मनतक अन्न वे ले जाते हैं। एकबार चूहे बहुत बढ़ गये, तो गाँवके बड़े-बूढ़ोंने कहा : 'सँपेरोंसे लेकर चार-छह साँप खेतोंमें छोड़ दो। सर्प छोड़े गये तो वे बिलोंमें जाकर चूहोंको खा गये। फसल बच गयी। तात्पर्य यह कि सर्प भी उपयोगी हैं। भूमि तथा वायुके विषको सर्प-बिच्छू चूस लेते हैं।

राजा पृथुने राक्षस, देवता, मनुष्य आदि सबके भोजनकी व्यवस्था की। वृक्ष, लता, वनस्पतियोंके भोजनकी व्यवस्था की।

प्रजाको धर्ममें लगाया। भूमिको बराबर कराया। सिंचाईके लिए पानीकी व्यवस्थाकी। सबको अपनी-अपनी मर्यादामें रहनेको विवश किया। जैसे सूर्य आठ महीने पृथ्वीसे जल सोखता है और चार महीने बरसाता है, वैसे ही राजा प्रजासे कर लेकर प्रजाका हित करते हैं।

पृथुने राज्य व्यवस्थित कर यज्ञ प्रारम्भ किया। यज्ञ वितरणकी आधिदैविक पद्धति है। हम देहके बाद भी रहते हैं, यह विश्वास यज्ञसे अनजानमें जीवनमें प्रवेश कर जाता है। यज्ञ करनेका अर्थ है यह मानना कि दैहिक जीवन ही हमारा जीवन नहीं, इसके परे भी हमारा जीवन है। इस प्रकार मनुष्यको अपने शाश्वततत्त्वका जब अनुभव होने लगता है, तब वह अपने कर्ममें बहुत सावधान हो जाता है।

सम्पूर्ण प्राणियोंके लिए ब्राह्मण वेदकी रक्षा करें और इससे उनकी जीविका चले। क्षत्रिय राष्ट्रकी रक्षा करें, उससे उनकी जीविका चले। वैश्य वस्तुओंकी उत्पत्ति करें और उन्हें उपलब्ध कराये, इससे उनकी जीविका चले। शूद्र कर्म करें, इससे उनकी जीविका चले। इस प्रकार यज्ञद्वारा सबकी व्यवस्था होती है। अग्नि, गाय, पृथ्वी, जल और वायुकी पूजाको दृष्टिमें रखकर ही यज्ञ होता है।

पृथु जब एकके पीछे एक यज्ञ करते ही चले गये, तो जिस इन्द्रके लिए यज्ञ किया जाता है, वे ही यज्ञमें बाधा डालने लगे। उन्हें लगा : "राजा पृथु 'शतक्रतु' हो जायँगे, तब मेरे शतक्रतु होनेकी मर्यादा क्या रह जायगी ?"

यज्ञमें बाधा डालनेके लिए इन्द्र पाखण्ड फैलाने लगे। अन्तमें पृथुके यज्ञमें भगवान् विष्णु पधारे। वे इन्द्रको अपने साथ ले

आये। बोले : **क्षमापयत आत्मानममुष्य क्षन्तुमर्हसि**—'ये इन्द्र तुमसे क्षमा माँगते हैं। इन्हें क्षमा कर दो। तुम इन्द्रका पद तो चाहते नहीं। यज्ञका फल भी तुम हमें दे देते हो। अतः सौ यज्ञ पूरा करनेका आग्रह छोड़ दो।'

पृथुमें इतनी महान् भक्ति थी कि स्वयं भगवान् विष्णुने उन्हें उपदेश किया! मनुष्यमें भक्ति तो होती ही है, शरीरकी भक्ति स्वाभाविक होती है। यदि मनुष्य अत्यन्त व्यक्तिनिष्ठ हो जाय, अपने शरीरकी ही पूजा करे, कुलदेवता, ग्रामदेवताकी पूजा न करे तो रोगी और अशान्त रहेगा। देश देवता है, भूमि देवता है; इनकी भक्ति भी भगवान्‌की भक्तिका अंग है। अतः देहसे दृष्टि उठाओ। जो सबमें व्यापक है, उसकी भक्ति करो।

भगवान्‌ने पृथुसे कहा : 'पृथु, वरदान माँगो!'

पृथु : 'आप मिल गये तब और क्या माँगना शेष है?' कुछ देर सोच-विचार करके पुनः वह बोला : 'हमारे कान दस हजार बना दें! अर्थात् हम परिच्छिन्न कथाओंमें आबद्ध न हों। ईश्वरकी कथा ही प्रेमसे सुनें।'

× × ×

गंगा-यमुनाके मध्यक्षेत्रमें रहकर पृथु शासन करते थे :

सर्वत्रास्खलितादेशः सप्तद्वीपैकदण्डधृक्।
अन्यत्र ब्राह्मणकुलादन्यत्राच्युतगोत्रतः॥

४.२१.१२

सप्तद्वीपवती पृथ्वीमें कोई पृथुकी आज्ञाको टाल नहीं सकता था। कहीं कोई भी दुष्टता करे, उसे वे दण्ड देते थे, केवल जो

विद्याजीवी हैं या जो भगवद्-भावनामें मग्न हैं, उन्हें छोड़कर पृथुकी आज्ञाका पालन सबको करना पड़ता था।

एकबार बहुत बड़ी सभा जुड़ी। सम्पूर्ण प्रजाके प्रतिनिधि उसमें एकत्र हुए। इसका अर्थ है, शासकको कभी-कभी प्रजाके समक्ष भाषण भी करना चाहिए। अपना विचार प्रजाके सामने रखना और प्रजाका विचार सुनना चाहिए।

उस समय सभामें पृथु उठ खड़े हुए। गौर वर्ण, अच्छा-लम्बा कद, सुन्दर अंग, प्रभावशाली व्यक्तित्व था उनका; किन्तु नियममें होनेके कारण कोई आभूषण उनके अङ्गपर नहीं थे। सबके मध्य उन्होंने भाषण किया :

चारु चित्रपदं श्लक्ष्णं मृष्टं गूढमविक्लवम्।
सर्वेषामुपकारार्थं तदा अनुवदन्निव ॥ ४.२१.२०

भाषणमें ये गुण होने चाहिए—नवीन नवीन उद्भावना हो, सुननेमें सुन्दर लगे, भाषासौष्ठव हो, मधुर हो, गूढ़भाव हों, बोलनेमें विकलता न हो, सबके उपहारका भाव हो। श्रोता जो कहना चाहते हैं, पर कह नहीं पाते वही बात वक्तादे कह। वक्ताको चाहिए कि वह श्रोताके भावको अभिव्यक्ति दे।

पृथुका भाषण होता है : **सारं सुष्ठु मितं मधुनम्**—थोड़ेमें, सार-सार, सुन्दर और मधुर। वे बोले :

सभ्याः शृणुत भद्रं वः साधवो य इहागताः।
सत्सु जिज्ञासुभिर्धर्ममावेद्यं स्वमनीषितम् ॥
अहं दण्डधरो राजा प्रजानामिह योजितः।
रक्षिता वृत्तिदः स्वेषु सेतुषु स्थापिता पृथक् ॥
४.२१.२१–२२

वे पहली बात कहते हैं : 'हम आप लोगोंको कोई उपदेश नहीं दे रहे हैं। यह जिज्ञासुका कर्तव्य है कि सत्पुरुषोंके बीच अपने द्वारा सुनिश्चित धर्मका आवेदन करे। तात्पर्य यह कि आप सब सत्पुरुष हैं और मैं एक जिज्ञासु हूँ। विचार द्वारा मेरे मनमें जो निश्चय हुआ है, वह बात आप सबके सामने निवेदन करता हूँ।'

प्रजाके मध्य बोलते हुए भगवान् श्रीरामने भी कहा था :

जौं कछु अनुचित भाखौं भाई।
तौ मोहि बरजेहु भय बिसराई॥

पृथु दूसरी बात कहते हैं : 'आप लोगोंने ही मुझे दुष्टोंको दण्ड देने और शिष्टोंकी रक्षा करने तथा सबको अपनी अपनी मर्यादामें स्थापित करनेके लिए दण्डधरके पदपर नियुक्त किया है। शास्त्र कहते हैं :

य उद्धरेत्करं राजा प्रजा धर्मेष्वशिक्षयन्।
प्रजानां शमलं भुङ्क्ते भगं च स्वं जहाति सः॥

४.२१.२४

अर्थात् जो राजा प्रजासे कर—अर्थदण्ड तो लेता है, पर प्रजाको अपनी मर्यादाको शिक्षा नहीं देता, वह प्रजाके पापका भागी होता है और उसके हाथमें फिर शासनकी बागडोर नहीं रह पाती। उसका ऐश्वर्य नष्ट हो जाता है।'

तत्प्रजा भर्तृपिण्डार्थं स्वार्थमेवानुसूयवः।

जैसे आजकल कहते हैं : 'आप हमारा हाथ मजबूत कीजिये तो देश मजबूत होगा। वैसे ही पृथुने कहा : 'भर्तृपिण्डार्थं' मेरा हाथ आप मजबूत करेंगे तो आपका ही भला होगा।'

इस प्रकार प्रजाके बीच पृथुने जो व्याख्यान दिया, उसमें ईश्वरके प्रति विश्वास, वेदके प्रति आस्था, सत्पुरुषोंका आदर, सबके उपकारके लिए कर्म एवं अपनी अन्तःकरणशुद्धिके लिए प्रयत्नकी प्रेरणा थी।

लोग कहने लगे : 'प्रह्लाद जैसा बेटा होनेपर जैसे हिरण्यकशिपु जैसे दुष्टका उद्धार हो गया, वैसे ही प्रथु जैसा पुत्र होनेपर वेनको भी परमार्थकी प्राप्ति हो गयी।'

× × ×

इसके बाद सनत्कुमारादि वहाँ आये। पृथु भरी सभामें उनके सत्कारके लिए उठ खड़े हुए। विनयसे उनका सिर झुक गया। उनने उसे आसनपर बैठाकर षोडशोपचारसे पूजन किया। जब वे खा-पीकर बैठ गये, तब उनसे प्रश्न किया। जो विद्वान् पुरुष होते हैं, उनसे कुछ पूछना भी उनका सत्कार ही है।

सनकादिकोंने उपदेश किया कि अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए जीवनमें क्या-क्या गुण आने चाहिए। एकतत्त्वका चिन्तन कैसे करना चाहिए।

अन्तमें पृथुने कहा : **साधुच्छिष्टं हि मे सर्वमात्मना सह किं ददे**—हमारा सर्वस्व साधुओंका उच्छिष्ट है, मेरा यह शरीर भी साधुच्छिष्ट है। साधु ही मेरे सब वैभवके हेतु और मुझे भगवान्‌का दर्शन करानेवाले हैं आपके रूपमें तत्त्वज्ञानका उपदेश करनेवाले हैं।

सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥

स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च।
तस्यैवाऽनुग्रहेणान्नं भुञ्जते क्षत्रियादयः॥

४.२२.४५–४६

अर्थात् 'आप सेनापति, राजा, तत्त्ववेत्ता, सर्वलोकाधिपति आदि सब होनेके सर्वथा योग्य हैं। हमारे प्राण, पत्नी, पुत्र, राज्य, भूमि, कोश सब आपको निवेदित है। यह तो है ही आपका। ब्रह्मज्ञ अपने स्वत्वके रूपमें ही इनका उपभोग करता है। क्षत्रियादि उसके अनुग्रहसे ही आजीविका पाते हैं।

× × ×

पृथुने थोड़े दिनोंतक प्रजा-पालन किया, फिर पुत्रोंको पृथ्वीका शासन देकर वनमें पत्नीके साथ चले गये। वहाँ योगाभ्यास किया :

ज्ञानं विरक्तिमद्भून्निशितेन येन
चिच्छेद संशयपदं निजजीवकोशम्।

तीव्र वैराग्ययुक्त ज्ञान होनेसे उसकी जीवत्वकी भ्रान्ति सर्वथा निवृत्त हो गयी।

छिन्नान्यधीरधिगता-ऽऽत्मगतिर्निरीह
स्तत्तत्यजेऽच्छिनदिदं वयुनेन येन॥

४.२३.१२

जिस ज्ञानवृत्तिसे अज्ञानको निवृत्त किया, उस ज्ञानवृत्तिको भी उसने त्याग दिया।

इस प्रकार जो गति पृथुको प्राप्त हुई, वही गति उनकी सेवा करनेवाली, उनसे संलग्न उनकी पत्नी अर्चिको भी प्राप्त हुई।

× × ×

अबतक श्रीमद्भागवतमें स्त्रियोंके सम्बन्धमें वर्णन आया है :

• द्रौपदी अपने पतियोंको अपनेसे निरपेक्ष देखकर स्वयं भी उनसे निरपेक्ष हो परमात्माको प्राप्त हुई।

• उत्तरा पुत्रकी रक्षा करके परमात्माको प्राप्त हुई।

• कुन्ती वैराग्यसे स्नेह-पाश काटकर परमात्माको प्राप्त हुई।

• दितिने धर्म-पालनमें प्रमाद किया तो उसे बहुत दुःख भोगना पड़ा।

• शतरूपाने मनुके साथ अपनेको मिला दिया।

• देवहूतिने पतिके संन्यासी हो जानेपर पुत्रसे ज्ञान पाया।

• अत्रि-अनुसूया सर्वथा एक।

• सतीने पिताके पक्षमें पतिकी आज्ञा नहीं मानी, तो उन्हें मरना पड़ा।

• सुरुचि-सुनीतिकी दशाका वर्णन ध्रुव-चरितमें आ गया।

• पृथु-पत्नी अर्चिने पृथुके शरीरके साथ चितारोहण कर पतिलोक प्राप्त किया। पृथुके समान वह भी मुक्त हो गयी।

× × ×

कालिदासने पूर्ण-जीवनके सम्बन्धमें भारतीय आदर्श बतलाया है :

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्तस्तनुत्यजाम्॥

—रघुवंश

श्रीहर्षने विद्याकी चार अवस्थाओंकी कल्पना की है : अधीति-बोधा-ऽऽचरण-प्रचारणैः (नैषध) । अर्थात् १. अधीतिः अध्ययन सम्पन्न होना । २. बोध : पढ़े हुएको ठीक-ठीक अधिगम करना, समझना । ३. उसके अनुसार आचरण करना । ४. उसका प्रचार करना ।

व्याकरण-महाभाष्यमें यह बात ठीक ऐसे ही आती है : १. स्वाध्याय-काल २. बोध-काल ३. व्यवहार-काल तथा प्रचार-काल ।

राजा पृथुका जीवन इस प्रकारका पूर्ण जीवन था । उनके जीवनमें किसी प्रकारकी त्रुटि दीखती ही नहीं । प्रजाके प्रति, ईश्वरके प्रति, अपने प्रति, अपनेसे सम्बद्ध लोगोंके प्रति इन सबमें पृथु पूर्ण थे ।

१२ ‖ प्राचीनबर्हि और उनके पुत्र

लोगोंके मनमें एक भ्रान्ति रहती है : 'बेटा भी बापके अनुरूप रहे।' इस संस्कारके कारण कई बार बड़े-बड़े अन्याय भी हुए हैं।

राजा दुष्यन्तके पुत्र भरत बड़े प्रतापशाली थे। लेकिन जब उनके बच्चे हों तो उनकी पत्नियाँ समझतीं कि 'यह तो बापके अनुरूप नहीं हुआ। कहीं इनका पिता यह न कह दे कि 'यह हमारा बेटा ही नहीं।' इस डरसे उन्होंने अपने बच्चोंकी हत्या कर दी।

पिताके अनुरूप ही सर्वदा पुत्र हो, यह आग्रह नहीं रखना चाहिए। वह नाना या दादाके भी अनुरूप हो सकता है। उसमें स्वतन्त्र बीज (प्रारब्ध) के अनुसार भी विकास हो सकता है।

ध्रुव जैसे भक्तके वंशमें वेन उत्पन्न हो गया। उसी वेनके शरीरसे पृथु उत्पन्न हुए। पृथुके वंशमें प्राचीनबर्हि राजा हुए। उन्होंने पृथुकी भलाईवाले अंशको, ईश्वरकी आराधना तथा सत्संगको तो छोड़ दिया; पृथुकी यज्ञ करनेकी प्रवृत्ति ही ली। पूर्वकी ओर नोक करके यज्ञोंमें इतने कुश बिछाये कि सब राज्य कुशोंसे पट गया। **कर्मस्वासक्तमानसम्**—उनका मन सदा कर्ममें ही आसक्त रहता।

नारदोऽध्यात्मतत्त्वज्ञः कृपालुः प्रत्यबोधयत।

उन्हें अध्यात्मतत्त्वज्ञ परम कृपालु नारदजीने समझाया : बहुत 'कर्ममें संलग्न नहीं होना चाहिए।'

अन्धं तमः प्रविशन्ति ये विद्यामुपासते।
तत एव भूय ते तमः येऽविद्यामुपासते ॥

—ईशावास्योपनिषद्

'जो कर्ममें बहुत लग जाते हैं, वे अन्धकारमें जाते हैं और जो कर्मको सर्वथा छोड़ देते हैं, वे भी अन्धकारमें जाते हैं।'

देवर्षि नारद उनके पास आकर प्रश्न करने लगे : 'तुम जो इतने यज्ञ कर रहे हो, तो इससे अपना कौन-सा मङ्गल चाहते हो ?' :

श्रेयस्त्वं कतमद्राजन् कर्मणाऽऽत्मन ईहसे।

प्रत्येक कर्मका एक ऐसा फल होता है, जो हमारे अहंके साथ जुड़ता है। यज्ञ करनेसे 'मैंने श्रेष्ठ कर्म किया' ऐसी वृत्ति अपने साथ जुड़ती है। अर्थात् कर्मजन्य श्रेष्ठताकी वृत्तिमें अपना अहं प्रतिफलित हो उठता है। इसी प्रतिफलनको शास्त्रदृष्टिसे फल कहते हैं। कर्मके अनुसार वह स्वर्गाकार या नरकाकार हो सकता है।

कोई भी कर्म करनेके बाद अहंके साथ सुखात्मक या दुःखात्मक, सन्तोषात्मक अथवा ग्लान्यात्मक वृत्ति जुड़ जाती है। यत्नसे, साधनसे, कर्मसे उत्पन्न वृत्तिमें तादात्म्यापन्न होना ही कर्मका फल है तो वह ब्रह्म कभी हो ही नहीं सकता; क्योंकि वह पहले था नहीं, वृत्ति बादमें रहेगी नहीं। मध्यमें बनी वृत्ति उत्पाद्य है, जब कि ब्रह्म उत्पाद्य, संस्कार्य, विकार्य या आप्य नहीं होता।

यदि प्रयत्नसे ब्रह्म मिलेगा तो वह नाशवान् होगा और यदि प्रयत्न न करेंगे तो नहीं मिलेगा। अतः साधनका फल है अन्तःकरणकी शुद्धि। साधनका फल ब्रह्म-साक्षात्कार नहीं। साधन द्वारा राग-द्वेष, काम-क्रोधादिको अन्तःकरणसे निकालकर वृत्तिको ब्रह्माकार कर देना। जैसे विद्यमान वस्तुका ही प्रमाण द्वारा

साक्षात्कार होता है, अविद्यमानका नहीं। एक वस्तु है, पर दूर है, आड़में है तो पास जाओ। आड़से अलग होओ तभी वह दीखेगी, लेकिन दीखेगी नेत्रसे ही। ऐसे ही ब्रह्मानुभव वृत्तिसे ही होगा। विद्यमान आत्माका वृत्ति द्वारा साक्षात्कार होता है, अविद्यमानका नहीं। जिस अन्धकारके कारण अनादि-अनन्त, अखण्ड-अद्वितीय आत्माका स्वरूप दीख नहीं रहा है, उस अन्धकारको दूर करनेके लिए प्रयत्न होता है। ब्रह्मको बनाने या बननेके लिए कोई प्रयत्न नहीं होता।

राजा प्राचीनबर्हि यज्ञमें लगे थे। यज्ञमें पाँच बातें मुख्य रूपसे होती हैं: १. अपने पास एकत्र धनका वितरण, 'दान'। २. अग्निके सामने बैठकर तप करके जो शक्ति-संचय होता है वह, 'आदान'। ३. 'उत्सर्ग-नियम' लेना—ब्रह्मचर्य-पालन, एकाहार, भूमिशयन आदि। जीवनको नियमित करनेका यहाँ अवसर मिलता है। ४. देहातिरिक्त आत्माका बोध। ५. शास्त्रपर विश्वास होकर उसका अभिप्राय कैसे निकालना चाहिए, इसकी प्रणालीका ज्ञान।

देवर्षि नारदने प्राचीनबर्हिको जगाया: 'तुम्हें इन कर्मोंसे सुख मिलेगा या दुःख?'

प्राचीनबर्हि: 'यह तो मैं कुछ नहीं जानता। सोचता हूँ कि महाराज पृथु यज्ञ करके महान् हुए, अङ्गराजका मनोरथ यज्ञ करके ही पूरा हुआ; अतः मुझे भी यज्ञ करना चाहिए।'

नारद: 'क्या यह भूल गये कि ध्रुवने भक्ति की और सब कुछ पा लिया। अच्छा, ऊपर देखो।'

राजा: 'ऊपर तो बड़े-बड़े भयङ्कर शेर, भेड़िये, सर्प दीखते हैं। वे बड़े क्रुद्ध प्रतीत हो रहे हैं।'

नारद: 'जिन पशुओंको तुमने यज्ञोंमें मारा था, वे ही वहाँ खड़े हैं। जब तुम परलोक जाने लगोगे तो वे तुमसे बदला लेंगे।'

यज्ञोंमें प्रकारान्तरसे मनुष्यरूप पशुका भी वध होता है। लोगोंसे यज्ञके, धर्मके नामपर काम करा लेना, पर उन्हें मजदूरी न देना या जबरदस्ती चन्दा वसूल करना उनका वध ही है। इसीसे शास्त्रमें चन्दा करके धर्म करनेका बड़ा विरोध किया है :

धर्मार्थमपि नेहेत यात्रार्थं वाऽधनो धनम्।

प्राचीनबर्हिने जब देखा कि हमारे मारे पशु आकाशमें बदला लेनेको खड़े हैं, तो वे भयसे काँपने लगे। इसके बाद नारदजीने उन्हें 'पुरंजनोपाख्यान' सुनाया।

पुरं जनयति इति पुरञ्जनः—जो इस शरीरको अपने कर्मसे जन्म देता है, उसका नाम 'पुरंजन' है। इसमें प्रमदा बुद्धि है। इस शरीररूपी घरमें यह प्रमदा स्वामिनी बन गयी है। वह जो आज्ञा देती है, जीव वही करता है। बुद्धिरूपिणी प्रमदाके सब कामोंको ज़ीवने अपने आपमें आरोपित कर लिया है। उसे बुद्धि और चेतनका विवेक नहीं रहा है।

देवर्षि नारदके उपदेशसे प्राचीनबर्हिको तत्त्वज्ञान हो गया। वे राज्य त्यागकर तपस्या करने कपिलाश्रम चले गये।

× × ×

प्राचीनबर्हिके पुत्र प्रचेता कहे जाते हैं : **प्रकृष्टानि चेतांसि येषां ते।** जिनका चित्त प्रकृष्ट हो। वे दस थे। दसों इन्द्रियाँ ज्ञानके संस्कार चित्तमें ले जाती हैं। 'प्रचेता' इनके प्रतीक हैं।

प्रचेताको उनके पिताने तपस्या द्वारा शक्ति-संचय करके सन्तान उत्पन्न करनेकी आज्ञा दी। वे नारायण-सरोवर (कच्छ) गये। तप करनेके लिए लोग या तो उत्तर जाते हैं या पश्चिम।

कपिलदेवजी पूर्वसमुद्रपर (जहाँ पीछे गङ्गा-सागर बना) तप करने गये थे। पूर्व अर्थात् पराक्—इन्द्रियोंके बाहर। इन्द्रियोंके भीतर—प्रत्यक्, पश्चिम है। उदक्—उत्तर अपर है। दक्षिणका अर्थ है, संसारकी अनुकूलता। अतः तप करने कोई दक्षिण नहीं जाता। विषयोंमें बने रहनेका अधिकार उसीको है, जो भगवान् कपिलके समान असङ्ग हो।

नारायण-सरोवरपर पहुँचते ही प्रचेताओंने सङ्गीत सुना। भगवान् गौरीशङ्कर प्रकट हुए और उन्होंने प्रचेताओंको भक्तिका उपदेश किया। तप करनेके अनन्तर उन्हें भगवान् नारायणका दर्शन हुआ। भगवान् शिवसे उपदेश-दीक्षा मिली और इष्टदेव नारायणका दर्शन हो गया। इसके बाद प्रचेताओंको संसारमें लौटते ही भयानक क्रोध आया।

एक महात्माने कहा : 'भगवान्का दर्शन होनेपर काम-क्रोध नहीं रहता।'

दूसरे महात्मा : 'भगवान्का दर्शन होनेपर भी काम-क्रोध आते हैं।'

एक अन्य महात्मा : "हम लोगोंको सावधान करते हैं कि 'यदि कोई कहता हो कि 'मुझे भगवान्का दर्शन हो गया है। मुझमें काम-क्रोध नहीं है', तो उससे सावधान रहना। अन्यथा धूर्त लोग भी कहेंगे कि 'मुझे भगवान्का दर्शन हुआ है', तो तुम उनपर विश्वास करके धोखा खाओगे।"

भगवान्का दर्शन होनेपर राग-द्वेष नहीं होता, यह तो ठीक; किन्तु काम-क्रोध हो सकता है। राग-द्वेष और काम-क्रोधमें बहुत अन्तर है। काम-क्रोधका शारीरिक वृत्तिसे सम्बन्ध है तो राग-द्वेषका अविद्या-अस्मितासे।

ये प्रचेता लोग जब नारायण भगवान्का दर्शन करके लौटे तो पहला काम इनसे यह हुआ कि इन्हें वृक्षोंपर क्रोध आ गया। इनके पिता राजा प्राचीनबर्हि राज्य छोड़कर तप करने चले गये थे। कोई शासक था नहीं। राज्यमें स्थान-स्थानपर जङ्गल हो गया था। ये बोले : 'हमारे राज्यमें इन वृक्ष-लताओंको कटवा दो, वनोंमें आग लगा दो।'

जङ्गलोंमें आग लगेगी तो पशु-पक्षी मरेंगे ही। बड़ी भारी हिंसा प्रारम्भ हुई। प्रचेता बड़े क्रोधमें थे : 'हमारे राज्यपर इन जड़ वृक्षोंका अधिकार!'

तब चन्द्रमा आये। अन्तःकरणमें सौम्यदृष्टिका उदय हुआ। चन्द्रमाने कहा : 'वृक्षोंपर क्रोध मत करो! वृक्ष नहीं होंगे तो वर्षा कैसे होगी, फिर अन्न कैसे होगा? संसारमें जङ्गलोंका रहना भी आवश्यक है।'

इसके अनन्तर प्रचेताओंका विवाह हुआ। उनके पुत्र हुआ। दक्षा प्रचेता घर-गृहस्थीमें लग गये, तब फिर नारदजी आये। उन्होंने उपदेश किया :

तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनो वचः।
नृणां येनेह विश्वात्मा सेव्यते हरिरीश्वरः॥
४.३१.५

'वही जन्म है, वही कर्म है, वही आयु है, वही मन और वाणी है, अर्थात् ये पाँचों उन्हींके सफल हैं, जिनके इन पाँचों द्वारा विश्वात्मा श्रीहरिकी सेवा हो।'

नारदजीने उपदेश किया : 'तुम परिच्छिन्न भावनाओंको छोड़कर परिपूर्ण भावनामें मग्न हो जाओ।

१३ प्रियव्रत

पञ्चम स्कन्धमें २६ अध्याय हैं। प्रकृतिके २४ तत्त्व होते हैं। २४ अध्यायोंमें बतलाया गया है कि प्रकृतिपर किस तरह विजय पायी जाय ? शेष अध्यायोंमें जीव एवं ईश्वर-विजयका निरूपण है।

पहले पाँच अध्यायोंमें निरूपण है कि भगवान् जिसपर अनुग्रह करते हैं, वह प्रकृतिपर कैसे विजय पाता है ? दूसरे नौ अध्यायोंमें योगाभ्याससे प्रकृतिपर विजयका वर्णन है। एक अध्यायमें रहूगण-जड़भरत-संवादमें तत्त्वज्ञानसे प्रकृतिपर विजय वर्णित है। नौ अध्यायोंमें ध्यान-उपासनासे प्रकृतिपर विजयकी रीति बतलायी गयी है।

ईश्वर-विजयकी प्रक्रिया यह बतलायी गयी है कि सम्पूर्ण स्थूल-सूक्ष्म-कारण सृष्टि परमात्माके भीतर है। नरक भी उनके स्वरूपमें है। कुछ नहीं है, यह प्रक्रिया नहीं बतलायी गयी। सब कुछ ईश्वरमें है, यही प्रक्रिया बतलायी गयी। जैसे एक मनुष्यके शरीरमें देखनेको आँख, सुननेको कान, बोलनेको वाक्, मूत्र-पुरीषोत्सर्गकी इन्द्रियाँ हैं, वैसे ही विराट् पुरुषमें भी सब इन्द्रियाँ हैं। विराट्का मल-मूत्रोत्सर्गस्थान ही नरकके रूपमें है। इसका अभिप्राय यह है कि राग-द्वेष छोड़कर 'सब परमात्माका स्वरूप है' इस

स्थितिमें मनुष्य आ जाय, तो वह निश्चय ही ईश्वरपर भी विजय प्राप्त कर लेता है।

× × ×

पञ्चम स्कन्धके प्रारम्भके पहले पाँच अध्यायोंमें प्रियव्रतकी कथा है। प्रियव्रतका जीवन भी पृथुके जीवनकी तरह ही परिपूर्ण है। कुछ थोड़े अंशोंमें देखें, तो स्पष्ट दीखता है कि पृथुमें जो ईश्वरत्व था, वह लौकिकताके साथ था, जब कि प्रियव्रतमें स्थित ईश्वरत्व अलौकिकताके साथ रहा।

प्रियव्रतने पहले गृहस्थ-धर्म अस्वीकार कर दिया और भजन-सत्संगमें लग गये।

मनुके दो पुत्र थे : उत्तानपाद और प्रियव्रत। श्रीमद्भागवतमें उत्तानपादके वंशके वर्णनके पश्चात् प्रियव्रतके वंशका वर्णन आता है। प्रियव्रत देवर्षि नारदके पास ही रहना चाहते थे। तब मनु और ब्रह्माजी उनके पास आये।

ब्रह्माजीने समझाया : 'बचपनमें ही बाबाजी बनाना ठीक नहीं। ईश्वरकी बनायी मर्यादामें दोष मत निकालो। ये कामादि दोष बाहर नहीं हैं। हमारा सुख-दुःख, राग-द्वेष, सब हमारे हृदयमें ही होता है।'

निबोध तातेदमृतं ब्रवीमि—ब्रह्मदेवने आगे कहा : 'पुत्र! इसे समझो, अमृतपूर्ण बात कहता हूँ। सारी सृष्टि ईश्वरकी आज्ञाका पालन करती है। उसका उल्लंघन कोई नहीं कर सकता। तुम जो समझते हो कि 'घर-गृहस्थीमें पड़नेपर राग-द्वेषादि आ जायँगे, वनमें नहीं—यह भ्रम है' :

भयं प्रमत्तस्य वनेष्वपि स्याद्यतः स आस्ते सहषट्सपत्नः।
जितेन्द्रियस्यात्मरतेर्बुधस्य गृहाश्रमः किं नु करोत्यवद्यम्॥
५.१.१७

पिताने कहा : 'पुत्र !' मनुष्य प्रमाद करना चाहे तो उसे वनमें भी उसका अवसर मिलता है। वन-पर्वतोंमें भी स्त्रियाँ होती हैं। वहाँ भी क्रोध आता है कि 'यह साधु हमारे वृक्षके नीचे क्यों आया ?' भीतर जो शत्रु बैठे हैं, उन्हें लेकर ही तो हम वनमें जाते हैं। लेकिन मनुष्य यदि जितेन्द्रिय है, आत्मरत है, समझदार है तो घरमें रहनेपर उसकी क्या हानि होगी ? घर किला है। किलेमें रहकर पहले अपने शत्रुओंको वशमें करो, तब वन जाओ।

इस प्रकार ब्रह्माजीके समझानेपर प्रियव्रत मान गये। घर लौट आये। विवाह किया, पूरी पृथ्वीका राज्य चलाने लगे।

मनु अन्तःकरणकी मनन करनेकी शक्ति और ब्रह्मा संस्कार-राशिरूप चित्त, दोनोंने प्रियव्रतको संसारमें लगाया।

हमारे जीवनमें भगवान्‌ने जो कुछ दिया है, वह सब त्यागके लिए नहीं, उपभोगके लिए है। यहाँतक कि काम, क्रोध लोभ, मोह भी नितान्त नष्ट करनेके लिए नहीं हैं। यदि ये केवल नष्ट करनेके लिए होते, तो भागवत-सृष्टिमें बनाये ही न जाते। समयपर इनका भी सदुपयोग होना चाहिए। मनमें पवित्र कामना आये, दुर्गुण-दुराचारके प्रति क्रोध हो, अपने हितैषियोंके प्रति मोह हो, सद्गुण-धारणका थोड़ा अहं हो। इस प्रकार भगवान्‌की बनायी सृष्टिमें जितने भाव हैं, उन सबका उपयोग हो सकता है। ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसका स्थान-विशेष और व्यक्ति-विशेषके लिए उपयोग करना धर्म न बन जाय। अतः ईश्वरकी सृष्टिमें किसी भी वस्तुके प्रति दोष-दृष्टि नहीं रखनी चाहिए।

प्रियव्रतने ब्रह्माजीकी आज्ञासे राज्य स्वीकार कर पृथ्वी, जल और तेजके भी विभाग किये। पृथ्वीका विभागकर जम्बू, प्लक्षादि सात द्वीप बनाये। जलका विभागकर सात रसोंका आविष्कार किया। इनके शासनकी व्यवस्था की।

प्रियव्रतने ही अपने रथकी नेमिसे समुद्रोंका निर्माण किया। पृथ्वीके सात द्वीप बनाकर अपने पुत्रोंको यथोचित भाग दिया। अपने बड़े पुत्रको तो बीचकी भूमि दी; शेष जितना जो पुत्र छोटा था, उसे उसी क्रमसे उतनी भूमि अधिक देते गये। पुत्रीका विवाह कर दिया।

अन्तमें बोले : 'भोगमें सार नहीं। राज्य और परिवारमें सार नहीं। अपना मन मोहपाशसे पृथक् कर भगवान्‌में लगाना चाहिए!'
वे विरक्त होकर भजन करने चले गये।

× × ×

प्रियव्रत इतने विरक्त, इतने प्रतापशाली हुए, किन्तु उनका पुत्र एक अप्सरापर ऐसा मुग्ध हुआ कि हाथ जोड़कर उसके सामने खड़ा हो गया। 'तुम ही महात्मा, तपस्वी, जीवन्मुक्त हो' कहकर अप्सराके पैर पकड़ने लगा।

अप्सराको दया आ गयी और उसीके साथ रह गयी। उसके पुत्र 'नाभि' हुए, जिनसे भगवान् ऋषभदेवकी उत्पत्ति हुई।

तात्पर्य यह कि भागवत-धर्ममें मनुष्य-जीवनका सम्पूर्ण चित्रण है—भलेसे भला और बुरेसे बुरा। यदि आप भागवत-धर्म समझ जायँ, तो मनुष्य-जीवनका रहस्य समझ जायँ। इससे आपको कभी दुःख न हो, न मोह हो तथा जीवनकी कला आ जाय अर्थात् आप दुःखसे अपनेको बचा सकेंगे और साथवालोंको भी सुखी रख पायेंगे।●

भागवत-धर्मके भीतर केवल गृहस्थ ही नहीं, ब्रह्मचारी, वान-प्रस्थ, संन्यासी और अवधूत भी हैं।

श्रीमद्भागवतमें एक प्रश्न उठाया गया है। मनके वेगसे चलना, आकाशमें उड़ना, भूत-भविष्यकी बात जान लेना आदि सिद्धियाँ ऋषभदेवजीके पास आयीं। किन्तु इनमें से उन्होंने किसीको स्वीकार नहीं किया। यह वर्णन सुनकर परीक्षित्ने प्रश्न किया: 'ऋषभदेवजी तो आत्माराम, ब्रह्मनिष्ठ हैं, देह और दैहिकको त्याग चुके थे। यदि उनके जीवनमें सिद्धियाँ रहतीं तो उनकी हानि क्या थी? उन्होंने सिद्धियोंको अस्वीकार क्यों किया?'

इसका समाधान श्रीमद्भागवतकार देते हैं:

न कुर्यात् कर्हिचित् सख्यं मनसि ह्यनवस्थिते।
यद्विश्रम्भाच्चिराच्चीर्णं चस्कन्द तप ऐश्वरम्॥ ५.६.३

अर्थात् 'अनवस्थित और चञ्चल मनपर महात्मा लोग कभी विश्वास नहीं करते। भले ही और किसीसे मित्रता कर लें, पर अपने मनसे कभी मित्रता न करें।'

एक मनुष्य भण्डारोंमें अपने आप पहुँच जाता। लोग कहते: 'तुम्हें भोजन नहीं देंगे।' वह कहता: 'भले ही पूड़ी न खिलाओ,

दिखाओ तो सही।' जब उसे पूड़ी दिखायी जाती तो 'हाय-हाय' करने लगता। कहता : 'मैं मर जाऊँगा, नहीं तो खिला दो।'

नित्यं ददाति कामस्य च्छिद्रं तमनु येऽरयः।
योगिनः कृतमैत्रस्य पत्युर्जायेव पुंश्चली॥ ५.६.४

'मन निरन्तर काम-क्रोधके लिए अवकाश दे दिया करता है। वह किसी वस्तुको देखता है तो उसे उत्तम मानता है। फिर चाहने लगता है। न मिलनेपर क्रोध करता है। मिलनेपर और पानेका लोभ करता है। पास रहे तो मोह करने लगता है।

यहाँ शंकरजो तकपर कटाक्ष है कि मनपर विश्वास करनेके कारण कि 'मेरे मनमें काम नहीं आ सकता, वह भस्म हो चुका है', बहुत दिनोंसे संचित उनका तप मोहिनीको देखकर स्खलित हो गया। इसलिए ऋषभदेवजीने सिद्धियोंको स्वीकार नहीं किया। वे मानते कि 'हम जीवन्मुक्त हैं, भगवदवतार हैं, तो क्या हुआ, मनके लिए हमें इन सिद्धियोंकी आवश्यकता नहीं।'

× × ×

ऋषभदेवजीके नौ पुत्र नौ योगेश्वर हुए। इक्कासो पुत्र ब्राह्मण हो गये। नौ राजा हुए। ज्येष्ठ पुत्र भरत सम्राट् हुए। ऋषभदेवजी स्वयं तो भगवान् थे ही, उनके सब पुत्र भी भागवत हुए।

अवधूतोंका एक धर्म ऋषभदेवजीने बतलाया : 'जहाँतक उपासनाका सिद्धान्त है, मरते समय मनुष्यकी वृत्ति एकाग्र, लक्ष्यमें स्थिर होनी चाहिए।' भक्ति-सिद्धान्तमें मानते हैं कि नामोच्चारण करते हुए शरीर छूटे तो सर्वोत्तम है।

ऋषभदेवजीका जीवन ज्ञानाग्निसे दग्ध हो चुका था। मरतेके समय उन्हें किसी साधनकी आवश्यकता नहीं थी। जो योगाभ्यास करते हैं, उन्हें मरते समय यदि समाधि न लगे, वासनाका उदय हो जाय तो वासनाके अनुसार उनका पुनर्जन्म होकर फिर समाधि लगती है। उपासना करनेवाला हो, तो अन्तिम समय इष्टदेवका ध्यान होना चाहिए, किन्तु एकबार तत्त्वज्ञान हो जानेके बाद कोई कैसे भी फिरे, रहे या मरे, वह ज्ञानसमकाल ही मुक्त हो जाता है।

ऋषभदेवजीने यह बतलानेके लिए कि 'मरते समय मुझे किसी साधनकी आवश्यकता नहीं है', एक पत्थरका टुकड़ा अपने मुखमें डाल लिया।

ऋषभदेवजीका जीवन सर्वथा निर्दोष है। इन्द्रको उनसे स्पर्धा हो गयी। अपने युवाकालमें ही कि 'यह इतना उन्नत है!' उन्होंने ऋषभदेवजीके राज्यमें वर्षा करना बन्द कर दिया। तब ऋषभ-देवजीने अपने संकल्पसे नये बादल बनाकर वर्षा की।

जो बात स्थूल-जगत्में भौतिक-विज्ञान द्वारा होती है अथवा आगे कभी सम्भव है, वही बात दृढ़संकल्पशक्ति पुरुषके संकल्पसे भी हो सकती है; क्योंकि स्थूलकी अपेक्षा संकल्पशक्ति अत्यधिक सशक्त है।

प्रकृतिपर विजय पानेवाले महात्माको मैंने देखा है। वे एकबार मेरे गाँव आये। उन दिनों अवर्षण था। धान, साँवा, सनके पौधे सूख-सूखकर गिर रहे थे। गाँवसे थोड़ी दूरपर हिंगुतरगढ़ गाँव है। वहाँके लोग आये। महात्मासे प्रार्थना करने लगे : 'हमारे यहाँ चलें!'

महात्मा चले पड़े उनके साथ। उन लोगोंने उन्हें धूपमें बिठा दिया। चार-पाँच सौ मनुष्य उन्हें घेरकर खड़े हो गये। बोले : 'हम लोग मर रहे हैं। हमारी जीविका चली जायगी, अन्न नहीं होगा तो कैसे जियेंगे? हम मरेंगे तो आपको धूपमें तो बैठायेंगे ही।'

बाबा हँसे। वे उठकर पौधोंके पास गये और बोले : 'क्यों भाई! तुम्हें प्यास लगी है, पानी चाहिए, तुम कष्ट पा रहे हो?' फिर कहने लगे : 'पानी तो आयेगा, पर कोई भागना मत।'

आधे घण्टेके भीतर आकाशमें बादल छा गये। इतनी जोरदार वर्षा प्रारम्भ हुई कि सब लोग बाबाको भींगते छोड़कर भाग गये। वैसे आध्यात्मिक दृष्टिसे ऐसे चमत्कारोंका कोई महत्त्व नहीं है।

× × ×

ऋषभदेवजीके ज्येष्ठ पुत्र राजा भरत भारतवर्षका राज्य तो करते थे; किन्तु भगवान्‌में उनकी अत्यन्त भक्ति थी।

श्रीमद्भागवतमें प्रश्न उठाया गया है :

कर्ता जो कर्म करता है, उसमें कर्तृत्व तो अपने आपमें रहता है। कर्मका संकल्प अपने अन्तःकरणमें रहता है। शरीरसे होता है कर्म तो कर्मका फल कर्ताको मिलना चाहिए? 'इन्द्राय स्वाहा' कहनेपर उस कर्मकी आहुति इन्द्रको नहीं मिलनी चाहिए।

जैसे श्राद्ध ही लें। इसमें प्रश्न यह नहीं कि वह पितरको मिलेगा या नहीं? प्रश्न यह है कि उससे श्राद्ध करनेवालेको लाभ होगा या नहीं? लाभ होगा; क्योंकि उसकी श्रद्धा बढ़ेगी। मरनेके बाद भी आत्मा रहता है, यह विश्वास बनेगा।

इस प्रश्नका श्रीमद्भागवतमें बहुत उत्तम समाधान भी दिया है :

एक शरीर इन्द्रका है, उसमें इन्द्रदेवतारूप जीव है। एक शरीर यजमानका है, उसमें यजमानरूप जीव है। लेकिन दोनोंमें अन्तर्यामी ईश्वर एक है। जैसे हम हाथसे ग्रास उठाते हैं और मुखसे खाते हैं, वैसे ही एक ही ईश्वर यजमानसे कर्म कराता है और इन्द्रके शरीरमें बैठकर खाता है। इसका अर्थ है कि कर्ता और उपास्य देवता दोनोंका अन्तर्यामी ईश्वर एक है।

राजा भरत जब उपासना करने लगे, तो उनकी उपासनामें एक विघ्न आया। यह मनुष्य-जीवनमें सावधान रहनेकी बात है। दया करना बहुत उत्तम है; लेकिन संसारमें नियम है कि जो सत्त्व है, वह रजमें बदल जाता है। जो रज है, वह तममें बदल जाता है। सत्त्व, रज, तम बदलते ही रहते हैं।

कोई दुःखी मिला। दया आयी और उसकी सेवा की। फिर अभिमान आया : 'मैंने दुःखीकी सेवा की।' दया सात्त्विक है, तो अभिमान राजस। जैसे सुषुप्तिमें कार्य-कारणभाव नहीं है, वैसे ही सत्त्व, रजस् और तममें भी कार्यकारणभाव नहीं है।

तपस्यामें लगे भरतके मनमें एक हिरनके नवजात शिशुपर दया आयी। दया करनेपर उससे आसक्ति हो गयी। उसके बिना रहा न जाता था। हिरनका ही स्मरण करते हुए ही मरे, तो हिरन हो गये। वह हिरन भरतकी गोदमें पला, उनका स्मरण करते हुए मरा तो राजा हो गया। सिन्धु-सौवीर देशका राजा रहूगण वहीं था।

यहाँ उपासनाका प्रभाव बतलाया गया कि मृग होनेपर भी पूर्वजन्मकी स्मृति बनी रही। तीसरे जन्ममें अवधूत होकर भरतने राजा रहूगणको परमार्थ-तत्त्वका उपदेश किया।

जड़भरतने रहूगणको बतलाया :

न सूरयो हि व्यवहारमेनं तत्त्वावमर्शेन सहामनन्ति ।

तत्त्वज्ञानसे आप अपनेको निर्बन्ध कर लो। जीवनमें उससे परम स्वातन्त्र्य जीवनमें उससे आ जाने दो। तत्त्वज्ञानके बाद भी व्यवहार यथावत् ही चलता रहता है।

जड़भरतकी कथाका यह विलक्षण तत्त्व है कि दया करो, पर आसक्ति न करो। भागवत-धर्म आसक्तिका समर्थन नहीं करता। उसमें दया, क्षमा, शान्ति, प्रेम है। उसमें सब सद्गुण हैं।

× × ×

पञ्चम स्कन्धमें जड़-भरतकी कथाके पश्चात् देशकी प्रधानतासे वर्णन है। यहाँ ग्रन्थमें यह बात बतलाना चाहते हैं कि विश्वमें जितने भी देश-प्रदेश हैं, वे सात स्वर्ग हों या सात पाताल या पृथ्वी—सब देशों, सब राज्यों और सब कालोंमें सबके महापुरुष परिपूर्ण परमेश्वरकी आराधनामें संलग्न रहते हैं।

भूगोल-खगोलका वर्णन यह बतलानेको है कि ईश्वरकी आराधना सार्वदैशिक है।

भारतवर्षके विषयमें मनुष्यकी धारणा ऐतिहासिक दृष्टिसे सङ्कीर्ण होती गयी है। ऋग्वेदके वर्णनके अनुसार सिन्धुनदी भारतके मध्यभागमें बहती थी। इसके पश्चिमके भागको 'पारस्य-स्थान' कहते थे। वहाँ आर्य रहते थे, जिन्हें 'आर्यायण' कहा जाता था। वही ईरान है। वहाँके राजा वरुण थे और 'जरदस्ति' ऋषि वहींके पुरोहित थे। जरदस्ति नामसे ही 'जरथुस्त' बना है।

अवेस्तामें ऋग्वेदके ३०-३५ मन्त्र ज्यों-के-त्यों हैं, केवल उच्चारण-शैलीका अन्तर है। महर्षि वशिष्ठसे जरदस्ति ऋषिकी मैत्री थी। पूर्वमें चीन, फारमोसापर्यन्त भारतका वर्णन है।

प्रागैतिहासिक-कालकी दृष्टिसे और विलक्षण वर्णन है। क्षीर-सागरसे परिवेष्टित सम्पूर्ण पृथ्वी जम्बूद्वीपके अन्तर्गत है और उसमें आजकी पूरी स्थूल पृथ्वी भारतवर्ष है। सब कहीं विश्वमें भारतीय संस्कृतिके चिह्न मिलते हैं।

सम्पूर्ण विश्व शेषात्माके आधारपर स्थित है।

१५ ‖ एक झाँकी

छठे स्कन्धके प्रारम्भमें परीक्षित्‌ने प्रश्न किया : 'मनुष्यको नारकीय यातना न मिले, इसका क्या उपाय है ?'

उत्तर दिया गया : 'भगवान् सबको उसी प्रकार अपनी कृपा दे रहे हैं, जैसे सूर्य सबको अपना प्रकाश; पृथ्वी चोर-साधु सबको धारण करती है; जल सबका आप्यायन करता है; ऊष्मा पापी-पुण्यात्मा दोनोंके शरीरोंमें रहकर उन्हें जीवित रखती है; आकाश सबको धारण करता है। ठीक इसी तरह तत्त्वात्मक ईश्वर समस्त सृष्टिमें सत्, चित्, आनन्दरूपमें रहकर सबको अनुगृहीत कर रहा है। उस ईश्वरका स्मरण-भजन ही नरकसे बचनेका अमोघ उपाय है।'

यह बात बतलानेके लिए छठे स्कन्धमें १९ अध्याय हैं। इसमें से ३ अध्याय नाम-सम्बन्धी, १४ अध्याय रूप-सम्बन्धी और २ अध्याय अर्चा-सम्बन्धी हैं।

इस स्कन्धमें कहा गया है : 'जिसे संसार अत्यन्त पापी समझता है, उस अजामिल जैसेके भी मुखसे भगवन्नाम-उच्चारण होनेका अर्थ है, भगवान्‌ने उसे पसन्द कर लिया।'

प्रश्न उठा : 'अजामिलका कल्याण क्यों हुआ ?'

उसके द्वारपर साधु आये। उसकी पत्नीने ले जाकर शिशु उनके सामने रख दिया और प्रार्थना की : 'इसका नाम रख दें।'

साधुके मनमें आया : 'यह अत्यन्त पापी और हीनाचार है, इसका कल्याण कैसे हो ? इस शिशुका नाम 'नारायण' रख दें तो यह कभी-कभी 'नारायण' का नाम तो बोला करेगा।'

जिस साधुने उसके पुत्रका नाम 'नारायण' रखा, उसने अजामिलके उद्धारका संकल्प किया। अन्ततः महात्माका वह संकल्प सफल होकर रहा।

'अजा' मायासे जो 'मिल' गया, वह 'अजामिल'। उसे वेद-शास्त्र, जाति-पाँति, आचार-विचार सब वह भूल गया। शराब, भोग, जुआ, चोरी, हिंसामें ही आसक्त हो गया ! लेकिन भगवान्की कृपा उसका भी उद्धार करती है।

इस कथामें तीन अध्यायोंमें नाम-स्मरण, नाम-कीर्तन, नाम-चिन्तन, तीनों बातें बतलायी गयी हैं।

ध्यानके लिए चौदह अध्याय हैं। इनमें अभिमानग्रस्त इन्द्रके कल्याणका वर्णन हैं। इन्द्रको अभिमान इतना था कि सिंहासनपर बैठा रहा और गुरुदेव आये, तो भी उसने उन्हें न प्रणाम किया, न बैठाया और न उनकी ओर देखा ही।

अजामिल दुराचार और दुष्कर्मसे भ्रष्ट था। दुरभिमानसे इन्द्र भ्रष्ट हुआ। महत्पुरुषके अपराधसे भ्रष्ट होकर असुर बना था, वृत्त। भगवान् इन सबका उद्धार करते हैं। वृत्तवधसे इन्द्रको ब्रह्महत्या लगी तो उसे भगवान् छुड़ाते हैं। दितिके पुत्रोंको भगवान् देवता बना देते हैं।

त्रिविध प्रकारके नाम-स्मरण, चतुर्दश प्रकारके ध्यान और द्विविध पूजा, इस प्रकार १९ प्रकारोंसे भगवान्‌का अनुग्रह मनुष्यके जीवनमें प्रकट होता है।

जातिवस्तुविभागोऽयं यथा वस्तुनि कल्पितः।

जैसे मिट्टीमें घट और घटत्व ही हैं, वैसे ही जीव और जीवत्व, शरीर और शरीरत्व, व्यक्ति और जाति जिस एक धातुमें पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं, उस एक धातुका नाम 'तत्त्व' या परमात्मा है। परमात्मामें न देह है, न देही; न शरीर है, न जीवात्मा। यह छठे स्कन्धके उपदेशका सार है।

× × ×

अजामिल एक ऐसा मनुष्य था जो बड़ा विद्वान् था, सदाचारी था; पर थोड़ी देरके कुसंगने उसकी भी मनोवृत्तिको गिरा दिया। **दुःसङ्गस्तु सर्वथा हेयः**—दुःसंग सर्वथा छोड़ देना चाहिए। 'जैसा करेंगे संग, वैसा चढ़ेगा रंग' :

यादृशान् सन्निविशति यादृशांश्चोपसेवते।
यादृगिच्छेत्तु भवितुं तादृक् भवति पूरुषः॥

कईबार देखा गया कि अच्छे विद्वान् युवक—जो नित्य सन्ध्या करते, गायत्री जपते, सत्संगमें श्रद्धा रखते हैं—थोड़े दिनोंके लिए कुसंगमें चले गये और लौटकर आये तो पहला ही प्रश्न किया : 'ईश्वर है या नहीं ?' सारी नींव ही हिल गयी !

हमारी संस्कृतिमें 'अधःपतन'का अर्थ है, अपने लक्ष्यसे च्युत हो जाना। अजामिल थोड़ी देरके कुसंगसे लक्ष्यके विपरीत लग गया। लेकिन भीतर बैठे नारायण किस निमित्तसे जाग जाते हैं,

यह भी अनिर्वचनीय है। साधुका क्षणभरका संग हुआ। नारायण-संगने उसके भीतर सोये नारायणको जगा दिया। वह समझता था, 'नारायण नामसे मैं अपने पुत्रको पुकारता हूँ।' लेकिन उसने अपने पुत्रका 'नारायण' नाम इसीलिए तो रखा था कि ईश्वरका एक नाम नारायण है। 'नारायण' शब्दकी शक्तिका सर्वथा लोप नहीं हुआ। अतः नारायण-शब्दसे अलामिलका पहलेका सुना-पढ़ा संस्कार जाग उठा।

कई लोग प्रश्न करते हैं : 'अजामिलको श्रद्धा नहीं थी, ज्ञान नहीं था कि यह भगवन्नाम है। पुत्रके लिए उसने नारायण-शब्द कहा। यह क्या अन्याय है कि नामाभासके उच्चारणसे भी उसका कल्याण हो गया?'

इसके उत्तरमें एक दृष्टि यह भी है कि 'जब नामभासका उच्चारण ही कल्याण कर देता है, तो नामकी महिमा क्या कही जाय!'

इस विषयमें वेद-शास्त्र-पुराणोंके अध्ययन तथा सत्संगसे मेरे मनमें जो संस्कार बैठ गया, वह अपना मत है : संसारमें जो किसीका नाम होता है, वह नामाभास ही होता है। नाम सबके सब परमात्माके हैं। जितने नाम सृष्टिमें हैं, सब परमात्माके नाम हैं। जितने रूप हैं, सब परमात्माके हैं। वास्तविक शाब्दबोध तो प्रत्येक नामोच्चारणसे परमात्माका ही होता है। हम लोगोंने अपनी ममता और भ्रान्तिने उन नामोंको दूसरे अर्थोंमें कल्पित कर रखा है।

नारायण किसीके पुत्रका नाम है—यह कल्पना है, मान्यता है, भ्रान्ति है। यही नामाभास है। वस्तुतः 'नारायण' शब्द भगवान्‌का

ही वाचक है। शैवोंने इस सिद्धान्तका बड़े जोरसे प्रतिपादन किया है। दण्डकाचार्यकी कारिकापर उत्पलाचार्यका भाष्य है। उसमें कहा है :

भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः।
तेन शब्दार्थचिन्तासु न स शब्दो न यः शिवः॥

अन्तर्यामी महेश्वर ही सर्वत्र भोग्यरूपमें स्थित है, अतः जब हम शब्दका चिन्तन करने लगते हैं, तब वह शब्द ही नहीं, जिसका अर्थ परमात्मा न हो। सब नाम परमात्माके ही हैं।

श्रीधर स्वामीने प्रश्न उठाया : 'मरनेके समय कोई नामोच्चारण कर नहीं सकता, अतः मरते समय नामोच्चारणके विधानका क्या अर्थ है ? जिस कानूनका पालन किया ही न जा सके, वह व्यर्थ है ?'

इसका उत्तर दिया गया : 'इस विधानका तात्पर्य यही है कि मरनेके क्षणमें ही भगवन्नाम लिया जाय। अर्थात् तब भगवन्नाम लिया जाय, जिसके बाद फिर पापकी सम्भावना ही न रहे।'

एकबार मैं श्री बिहारीजीके दर्शन करने गया। बोल दिया :

पापोऽहं पापकर्माहं पापात्मा पापसम्भवः।
पाहि मां पुण्डरीकाक्ष सर्वपापहरो हरिः॥

ॐ श्री विहारिणे नमः । एकबार यह बोलते ही हृदयसे निकाला : **निष्पापोऽहम्**। इस 'निष्पापोऽहम्' का कारण हुआ श्री बिहारीजीके सामने 'पापोऽहम्' की स्वीकृति। इसीका नाम है, भक्ति-सिद्धान्त। दूसरा कौन साधन इतनी शीघ्र, एक क्षणमें निष्पाप करेगा ?

जीवनमें सदाचार तो आता है, पर दुःसंगसे अतिचार भी। भगवान्का स्मरण अनाचारको मिटा देता है, भीतर बैठे भगवान्को जगा देता है। यदि आप कभी पाप, अनाचार, हीनताके भाव ग्लानि या घृणासे पीड़ित हैं तो उस समय भगवान्का स्मरण करें। जीवनमें कभी यह समस्या आ सकती है कि अपनेको आचारच्युत और हीन अनुभव करने लग जायँ। लेकिन नामका आलम्बन लेकर पाप नहीं करना चाहिए। अन्यथा वह पाप नहीं मिटेगा।

जहाँ यह वृत्ति बनी कि 'मैंने पाप किया' वहाँ तुम पापी हो गये। जानबूझकर जहाँ पाप किया जाता है, वहाँ मनुष्य पापी हो जाता है और जान-बूझकर किया गया भगवत्स्मरण उस पापको मिटा देता है।

× × × ×

ऐश्वर्य मिलनेपर मद हो जाता है। नशा संसारके सब भोगोंमें होता है; किन्तु सबसे बड़ा नशा ऐश्वर्य एवं धनका होता है। इन्द्रको स्वर्गाधिप होनेका बड़ा मद था। वैसे ऐश्वर्य श्रेष्ठ है; किन्तु उसमें ज्ञानका अनादर नहीं होना चाहिए। यदि विद्या और ज्ञानका अनादर होगा, तो ऐश्वर्य नष्ट हो सकता है। ऐश्वर्य बुद्धिके साथ ही रहता है, निर्बुद्धिके साथ नहीं। रहेगा भी तो थोड़े ही दिन रहेगा।

अन्यायोपार्जितं द्रव्यं दश वर्षाणि तिष्ठति।
प्राप्ते त्वेकादशे वर्षे कलिकेव विनश्यति॥

अन्यायसे कमाया धन दस वर्ष रहेगा। ग्यारहवें वर्षमें रुईकी तरह उसमें आग लग जायगी और वह नष्ट हो जायगा।

इन्द्रको मद हुआ। उन्होंने अपने गुरुका तिरस्कार किया, फलतः ऐश्वर्य-भ्रष्ट हो गये। शत्रुके तो गुरु थे, इन्द्रके गुरु अदृश्य हो गये। शत्रु दैत्योंके गुरुने सलाह देकर इन्द्रको हरा दिया। तब इन्द्रने दूसरा गुरु बनाया, पर वह छली निकाला। पुराने विश्वस्त गुरु बृहस्पतिको छोड़ दिया, विश्वरूपको गुरु बनाया, तो उसने दैत्योंके लिए भी आहुति देना प्रारम्भ किया। अतः उसे मारना पड़ा।

पहले गुरुका अनादरवश तिरस्कार हुआ और दूसरे गुरुकी हत्या हुई, तो ब्रह्महत्या लगी। इसका अर्थ है कि मनुष्यको सतत सावधान रहना चाहिए। ऐश्वर्यके मदमें मत्त नहीं होना चाहिए। अनजान व्यक्तिपर विश्वास नहीं करना चाहिए। ज्ञानका सदैव आदर करना चाहिए।

× × ×

प्रजापति दक्षका लक्ष्य था, सृष्टि बढ़ाना। भगवान्से उन्होंने सृष्टि बढ़ानेकी शक्ति भी पायी; किन्तु दक्ष प्रचेताके पुत्र थे और प्रचेताओंके गुरु थे नारद। वे दक्षके पुत्रोंपर भी कृपा करने लगे।

दक्षके हर्यश्व और शबलाश्व नामक दो प्रकारके पुत्रगण हुए, किन्तु दक्ष जैसा चाहते, वे उसके सर्वथा विपरीत थे। वे निवृत्ति-परायण देवर्षि नारदके शिष्य बन गये। उन्होंने विवाह ही नहीं किया। तप करने गये, तो लौटकर ही नहीं आये।

मनुष्यके जीवनमें ऐसा भी समय आता है, जब पुत्र ही साथ न दे और अपने लक्ष्यके सर्वथा विपरीत चले। दक्षको क्रोध आया, नारदजीसे बोले :

नानुभूय न जानाति पुमान् विषयतीक्ष्णताम्। ६.५.४१

'विषयोंके भोगोंमें क्या रोग या दोष होता है, इसे भोग किये बिना मनुष्यको पता नहीं लगता। अतः जो बालक हैं, जिनकी बुद्धि परिपक्व नहीं, जो स्वयं ईश्वरकी ओर नहीं जाना चाहते, उन्हें बचपनमें वैराग्यकी शिक्षा-दीक्षा देकर पुरुषार्थसे भ्रष्ट नहीं करना चाहिए।'

यही नहीं, दक्षने नारदजीको शाप भी दिया : 'तुम अब एक स्थलपर रहकर किसीको बहका न सकोगे। सदा घूमते रहो।'

जीवनमें शाप भी सुननेको मिलता है, पर शापके बदले शाप नहीं देना चाहिए। शाप देनेवालेसे लड़ाई, निन्दा नहीं करनी चाहिए। उस परिस्थितिका सदुपयोग कर लेना चाहिए।

एक पिता पुत्रपर बिगड़ उठा : 'वनमें चला जा!' पुत्र बोला : 'आपने बड़ी कृपा की।' वह वनमें जाकर आदिवासियोंको पढ़ाने लगा। उनके लिए चिकित्सालय बनवाये। घरसे वह निकाला गया, पर वनमें जाकर उसने मङ्गल कर दिया। ऐसे ही देवर्षि नारदजीने दक्षका शाप स्वीकार कर लिया।

दक्षने फिर ब्रह्माजीसे अर्थात् अन्तःकरणमें बैठे चतुर्मुख—चारों-ओर दृष्टि रखनेवाले विवेकसे पूछा—'अब मुझे क्या करना चाहिए?'

ब्रह्माने कहा : 'पुनः पुत्र उत्पन्न करोगे तो नारद फिरसे उन्हें भी विरक्त बना सकते हैं। इसलिए पुत्रियाँ उत्पन्न करो। नारद उनके पास फटकेंगे ही नहीं।'

दक्षने पुत्रियाँ उत्पन्न कीं। उनका वंश चला।

× × ×

मथुराके नरेश थे, राजा चित्रकेतु। पूरी पृथ्वीपर उनका आधिपत्य था। उनको बहुत अधिक पत्नियाँ थीं। सेना, भाई-बन्धु सब थे, पर कोई सन्तान नहीं थी। इस कारण वे बड़े दुःखी

रहते। उनके यहाँ अङ्गिरा ऋषि आये और उन्होंने समझाया : 'सन्तान होनेसे ही कोई सुखी नहीं हो जाता। संसारकी प्रत्येक वस्तु सुख भी देती है और दुःख भी। प्रत्येक महीनेमें शुक्ल, कृष्ण दोनों पक्ष होते हैं। रोज रात्रि और दिन होते हैं। ऐसे ही जीवनके दोनों पक्ष होते हैं।'

राजाने एक भी बात नहीं मानी। उनका हठ था : 'मुझे तो पुत्र ही चाहिए।'

ऋषिने उन्हें पुत्र होनेका आशीर्वाद दे दिया। लेकिन एक पत्नीको पुत्र हो गया, तो दूसरा पत्नियोंको ईर्ष्या हुई। उन्होंने पुत्रको बिष दे दिया। पुत्र मर गया। बड़ा दुःख हुआ। बारह वर्ष पुत्रके लालन-पालनमें जो सुख हुआ था, घण्टेभरमें ही उसका बदला निकल गया। चक्रवर्ती सम्राट् पृथ्वीपर लोटने-चिल्लाने लगा।

फिर महर्षि अङ्गिरा नारदजोको लेकर आये। नारदजीने कहा : 'तुम्हें मोह बहुत है, अतः मैं तुम्हारे पुत्रकी आत्माको बुलाता हूँ।'

आत्मा आयी। एक आकार खड़ा हो गया। नारदजीने उससे कहा : 'देखो, तुम्हारे पिता तुम्हारे लिए कितना रो रहे हैं।'

आकार : 'मैं इन्हें नहीं पहचानता कि ये किस जन्मके मेरे पिता हैं; क्योंकि अबतक मेरे लाखों-करोड़ों जन्म हो गये और उनमें लाखों-करोड़ों पिता हुए हैं? ये भी लाखों बार मेरे बेटे हुए होंगे और मैं लाखोंबार इनका पिता। संसारमें कौन किसका पुत्र और कौन किसका पिता है? जीवकी धारा तो स्वतन्त्र है। उसमें पिता-पुत्रभाव कैसा? शरीरके साथ जितना सम्बन्ध है, उतना ही रहता है। फिर कौन किसका?'

राजाका मोह दूर हो गया। इससे अनन्तर नारदजीके उपदेशसे चित्रकेतुने भगवान् शेषकी आराधना की। शेष भगवान्ने प्रसन्न होकर उन्हें तत्त्वज्ञान देकर विद्याधर बना दिया।

विद्याधर होकर चित्रकेतु विमानपर घूमते रहे और अपनेको बहुत बड़ा मानने लगे। एक दिन वे गौरी-शंकरकी आलोचना करने लगे। पार्वतीजीने कहा : 'ब्रह्माजी तो भगवान् शिवका आदर करते हैं, नारद-सनत्कुमारादि भी इनका उपदेश सुनते हैं, तब तू सृष्टिका शास्ता कहाँसे आ गया, जो हमारी आलोचना करता है ? जा, असुर हो जा। फिर कभी ऐसा मत कर !'

इस शापके कारण चित्रकेतुको वृत्रासुर होना पड़ा। शिवके जीवनका रहस्य है, अवधूतपन। चित्रकेतुके जीवनका रहस्य है, सिद्धपन। बड़ीसे बड़ी सिद्धि पानेपर भी मनुष्य गिर सकता है और वहाँ भी भगवान् उसकी रक्षा करते हैं। वृत्रको मरते समय युद्धमें भगवान्की स्मृति आयी और भगवान्ने उसे अपना लिया।

× × ×

दितिको बड़ा दुःख हुआ कि 'मेरे दोनों पुत्र हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु मारे गये।' अतः वह चाहने लगी कि अदितिके पुत्र भी मारे जायँ। दोनों सौतोंका झगड़ा बहुत पुराना है।

दितिने भगवान्की आराधना की। प्रतापी पुत्र गर्भमें आया। लेकिन इन्द्रने सेवा करके दितिको प्रसन्न कर लिया। एक वर्षतक इन्द्र दितिकी सेवा करते रहे। दिति भगवान्की भक्ति करे और इन्द्र दितिकी सेवा करें। इस प्रकार इन्द्र भगवान्के दासानुदास बन गये।

भगवान्ने इन्द्र और दिति दोनोंपर कृपा की। दितिके गर्भसे ४९ पुत्र हुए, पर वे देवता हो गये। यह भगवदर्चनका प्रभाव है।●

१६ ‖ एक झलक

श्रीमद्भागवतके सप्तम स्कन्धमें १५ अध्याय हैं, जो तीन भागोंमें विभाजित हैं : १. आध्यात्मिक, २. आधिदैविक और ३. आधिभौतिक। त्रिविध कल्याणके लिए पाँच-पाँच अध्याय हैं। अथवा पाँच प्रकारके जो कर्म-हेतु होते हैं :

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणञ्च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवञ्चैवात्र पञ्चमम्॥

उनके हिसाबसे सात्त्विक, राजस, तामस क्रमसे पाँच-पाँच अध्यायोंके तीन भाग बनाये जा सकते हैं।

कोई-कोई कहते हैं कि अविद्या पञ्चपर्वा होती है। ये पर्व हैं : १. अविद्या, २. अस्मिता, ३. राग, ४. द्वेष और ५. अभिनिवेश। इन पाँचों पर्वोंके निषेधके लिए विद्याके भी पाँच पर्व होते हैं : १. विद्या, २. तप, ३. विराग, ४. आराधना और ५. तत्त्वज्ञान। इन पाँचोंसे अविद्याके पाँचों पर्वोंका निषेध होता है। इन्हींको ये अध्याय सूचित करते हैं।

× × ×

जैसे माँ अपने बीमार बेटेकी ओर अधिक ध्यान देती है, केवल स्वस्थ पुत्रको ही नहीं पालती, वैसे ही भगवान्‌की कृपा सभीपर होनेपर भी आध्यात्मिक दृष्टिसे रुग्ण प्राणीपर प्रभु विशेष कृपा करते हैं।

श्रीमद्भागवतमें यहाँ प्रश्न उठा : 'क्या भगवान् पक्षपाती हैं जो बार-बार देवताओंका पक्ष लेकर दैत्योंका संहार करते हैं? यहाँतक कि दितिके गर्भमें एक बार कोई प्रतापी पुत्र आया भी, तो उसे देवता बना दिया ?'

इसका उत्तर दिया गया : 'भगवान् किसीका पक्षपात नहीं करते। हम जब ईश्वरके विषयमें सोचें तो मनुष्यकी दृष्टिसे न सोचें। जिसका जैसा बीज होता है, पञ्चभूत उसे वैसी शक्ति देते हैं। करैलेकी कड़वाहट और अंगूरकी मिठास भूमिसे ही मिलती है। इसी तरह ईश्वर सबको शक्ति देता है। वही सत्त्वमें सत्त्व, रजमें रज और तममें तम बनता है। भगवान् हिरण्यकशिपुको भी शक्ति देते हैं और प्रह्लादको भी।

कोई सोचे कि बचपनमें भजन करना ठीक नहीं। दक्षके पुत्र बचपनमें विरक्त हो गये, यह ठीक नहीं था, तो प्रह्लादको देखें। बचपनमें भगवान्‌की भक्ति तो करनी चाहिए; किन्तु संन्यास आदि लेने जैसा कोई पग नहीं उठाना चाहिए कि उसे लौटाना पड़े।

'ह्लाद शब्दने' से 'प्रह्लाद' शब्द बना है, जिसका अर्थ है भगवन्नाम लेनेवाला। प्रकृष्टः ह्लादो यस्य, ह्लादः शीतीभावे सुखे च। ह्लाद-धातु गरमको ठण्डा करने तथा आनन्दवृद्धि करनेके अर्थमें है। प्रह्लादको देख सब लोग आनन्दमग्न हो जाते थे।

एक ओर कथा आयी कि क्षणभरके कुसङ्गसे अजामिलका पतन हो गया, तो दूसरी ओर वर्णन आया कि गर्भावस्थामें जो बालकको सत्सङ्ग मिला और उसी सत्सङ्गसे प्रह्लादका कल्याण हो गया।

प्रह्लादकी बड़ी विलक्षण निष्ठा है। उन्हें सर्पोंसे डँसवाया गया, समुद्रमें डुबोया गया, पर्वतसे गिराया गया, आगमें जलाया गया, हाथियोंसे कुचलवाया गया; फिर भी प्रह्लादने अपनी निष्ठा नहीं छोड़ी।

सच्चे अर्थमें 'सत्याग्रही' संज्ञा प्रह्लादमें ही जुड़ती है। उन्होंने पूर्णताको ही पकड़ रखा, कभी उनमें अल्पता नहीं आयी। प्रह्लाद जन्मसिद्ध तत्त्वज्ञ थे, जैसे कि वामदेव गर्भसे ही तत्त्वज्ञानी हो गये थे।

सम्प्रदायमें माना जाता है कि जब सनत्कुमारने जय-विजयको असुर होनेका शाप दे दिया तो फिर उनके मनमें आया: 'भगवत्पार्षदोंको तनिक-सी भूलके कारण असुर होनेका शाप देकर मैंने उन्हें नीचे भेज दिया, तो मेरा यह भी कर्तव्य है कि उनका उद्धार होनेतक उनके साथ रहूँ।' इसलिए सनत्कुमार ही 'प्रह्लाद' बनकर आये। रावण-कुम्भकर्णके साथ 'विभीषण' बनकर वे ही आये थे। यह बात पुस्तकोंमें तो कहीं नहीं है, पर साम्प्रदायिक किंवदन्ती अवश्य है।

माताने सत्संग किया और प्रह्लादको गर्भमें ज्ञान हो गया। मनुष्य-जीवनके लिए यह जानने योग्य है कि सन्तान जैसी बनानी हो, गर्भवती स्त्रीको उसी ढंगका श्रवण-दर्शन चाहिए। वहींसे बीज पड़ता है। गर्भावस्थामें जो संस्कार पड़ते हैं, वे सुदृढ़ हो जाते हैं।

माता भूल गयी, पर बच्चा भूला नहीं। प्रह्लाद हिरण्यकशिपुके अर्थात् स्वर्णकी शय्यापर सोनेवालेके पुत्र हुए, पर उन्होंने पिताके असत्य और अन्यायका बाल्यावस्थासे ही विरोध किया।

प्रह्लादने ही 'छात्र-आन्दोलन' प्रारम्भ किया। गुरुजी जब किसी कामसे चले जाते, तो वे विद्यार्थियोंको इकट्ठा कर उन्हें ईश्वर-भक्ति, विवेक, मोक्षका उपदेश करते। विद्यार्थी प्रह्लादकी बात माना करते, गुरुजीकी नहीं।

जगृहुर्निरवद्यत्वात् नैव गुर्वनुशिक्षितम्।

प्रह्लादकी शिक्षा निर्दोष थी, इसलिए विद्यार्थी उसे तो ग्रहण करते थे। पर गुरुकी शिक्षा **त्रिवर्गस्योपपादनम्** धन, भोगके लिए थी, अतः विद्यार्थी उधरसे विमुख हो जाते।

इससे बतलाया गया कि अपने पिताके भी अन्यायका विरोध किया जा सकता है। उपनिषद्में कथा आती है कि पिता ब्राह्मणोंको बूढ़ी गायें दान करते थे, तो पुत्र नचिकेताने उनका विरोध किया। इसी प्रकार प्रह्लादने भी पिताके अन्यायका विरोध कर छात्रोंको अपने पक्षमें संगठित कर लिया।

प्रह्लादने सारेके सारे दुःख सहे; पर अपना सिद्धान्त नहीं छोड़ा। उनका कहना था : 'श्रेष्ठ मनुष्य बननेके लिए किसी जाति-विशेषमें उत्पन्न होना जरूरी नहीं' :

नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वाऽसुरात्मजाः।
प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता॥ ७.७.५१

श्रेष्ठ मनुष्य बननेके लिए जीवनमें मात्र सद्गुण होने चाहिए।

प्रह्लादने एक और विलक्षण सिद्धान्तकी स्थापना की है :

नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एको
नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये ॥ ७.९.४४

'संसारके इन गरीब-दुखियोंको छोड़ मैं अकेले अपने लिए मुक्ति नहीं चाहता। चाहता हूँ, संसारके सभी दुःखी दुःखसे मुक्त हो जायँ।'

मैंने एक महात्माको कहते सुना : 'यदि हमें भगवान् मिलेंगे तो हम कहेंगे कि भगवन् ! सबको मुक्त कर दो !'

मैंने पूछा : 'क्या यह संभव है ?'

वे बोले : 'इसमें सम्भव-असम्भवका प्रश्न नहीं। हृदयमें सबको मुक्त करनेकी जो भावना है, उसीकी प्रधानता है। हमारा हृदय श्रेष्ठ भावनाओंसे पूर्ण रहना चाहिए। होता क्या है, यह हमारे हाथमें नहीं। वह तो भगवान्के हाथमें है।'

मौनव्रत - श्रुततपोऽध्ययन - स्वधर्म-
व्याख्या-रहो - जप - समाधय आपवर्ग्याः।
प्रायः परं पुरुष ते त्वजितेन्द्रियाणां
वार्ता भवन्त्युत न वात्र तु दाम्भिकानाम् ॥ ७.९.४६

'मौन रहना, व्रत, सत्संग, तपस्या, शास्त्राध्ययन, अपने धर्मका पालन, शास्त्रकी व्याख्या-कथा, एकान्तसेवन, जप, समाधि लगाना ये सब मोक्षके साधन हैं। किन्तु यदि इन्द्रियाँ वशमें न हों, तो ये सबके सब भोग-साधन दम्भके साधन बन जाते हैं। इनसे मनुष्यका कल्याण नहीं होता।'

विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-
पादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम्। ७.९.१०

'स्वाध्याय, तपादि बारह गुणोंसे युक्त कुलीन ब्राह्मण हो; किन्तु भगवान्‌से विमुख हो तो उसकी अपेक्षा वह चाण्डाल श्रेष्ठ है, जो भगवान्‌का भजन करता है।'

मन्ये धनाभिजन-रूप-तपः-श्रुतौज-
स्तेजः-प्रभाव-बलपौरुष-बुद्धि-भोगाः।
नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो
भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय॥
७.९.९

प्रह्लादजी कहते : 'मैं मानता हूँ कि धन, परिवार, रूप, तपस्या, विद्या, तेज, प्रभाव, बल, पराक्रम, बुद्धि या अन्य साधन परमपुरुष भगवान्‌को सन्तुष्ट नहीं कर पाते। किन्तु भक्तिसे भगवान् गजेन्द्रपर—पशुपर भी सन्तुष्ट हो जाते हैं।'

भगवान्‌के परम उग्र नृसिंहरूपको देखकर लक्ष्मीजी भी डर जाती हैं। लक्ष्मीको देखकर तो उनकी उग्रता और भी चमक उठी। ऐसी उग्रदृष्टिसे नृसिंहने लक्ष्मीकी ओर देखा कि : **सा नोपेयाय शङ्किता** (७.९.२)—उन्हें शंका हो गयी कि 'कहीं ये हमें ही न मार डालें।' यह भी शंका हो सकती है कि 'ये वे ही हैं या दूसरे ?' लक्ष्मी समीप नहीं जा सकीं, लेकिन प्रह्लाद निःशंक सामने गये, तो उन्हें उठाकर नृसिंह भगवान्‌ने गोदमें बैठा लिया और बोले :

क्वेदं वयः क्व च वपुः सुकुमारमेतद्—'कहाँ यह पाँच वर्षकी नन्हीं-सी आयु, कहाँ यह सुकुमार शरीर और कहाँ इतनी भयंकर यातनाएँ तुम्हें सहनी पड़ीं ?' **क्षन्तव्यमङ्ग यदि मे समये विलम्बः**—'बेटा प्रह्लाद ! क्षमा करो, यदि मेरे आनेमें देर हो गयी हो तो !'

भगवान्‌ने आगे कहा : 'वर माँगो !'

प्रह्लाद : 'जो सेवक कुछ लेनेके लिए सेवा करता है, वह सच्चा सेवक नहीं। जो स्वामी सेवकसे केवल सेवा ही लेना चाहता है, वह सच्चा स्वामी भी नहीं। हम लोगोंमें लेन-देनका सम्बन्ध नहीं, हमारा तो प्रेमका सम्बन्ध है। फिर भी आप कुछ देना ही चाहते हैं' तो—

कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम्।

मैं आपसे यही वर माँगता हूँ कि मेरे मनमें कभी कुछ माँगनेकी इच्छा ही न हो।' यही भागवत-धर्म है।

× × ×

भगवान् शिव भी परम भागवत हैं, यह बात त्रिपुरकी कथामें बतलायी गयी है। शिवजीको बाणकी नोकपर भगवान् विष्णु बैठे। बिना विष्णुके त्रिपुरका—स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीरोंका—नाश नहीं हो सकता। (त्रित्व : सत्त्व, रज, तम)का नाश बिना विष्णु—व्यापक दृष्टिके नहीं होता।

यदि जीवनमें कभी कोई कठिनाई आये तो दृष्टि व्यापक करें। संकीर्ण दृष्टि करेंगे तो एक दुःख भले मिट जाय, दूसरा आ धमकेगा। अपनेको सीमाकी ओर नहीं, असीमकी ओर ले जायँ।

× × ×

सातवें स्कन्धमें अन्तिम पाँच अध्यायोंमें धर्मका ऐसा उपदेश है कि उसकी कई बातें दूसरे किसी ग्रन्थमें नहीं मिलतीं।

धर्म अपने पालनके लिए है, पर उसका लाभ सब उठायें, यह दृष्टिकोण स्पष्ट वर्णित है। यहाँतक कहा गया है :

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥
७.१४.८

'जितनेसे पेट भर जाय, उतनेपर ही प्राणीका हक है। जो उसके अधिकपर अपना अधिकार जमाना चाहते हैं, वह चोर, अतएव दण्डका भागी है।' वह सम्पत्ति सबकी है, यह बात भागवतके अतिरिक्त मुझे और कहीं देखनेको नहीं मिली।

आप भी सेवा करें, पत्नीको भी सेवामें लगायें। दोनों जगत्‌की सेवा करें। पत्नीको केवल घरमें बन्द कर नहीं रखना चाहिए, यह भागवत-धर्म है।

जबतक मनुष्य मानव-धर्मका पालन करता है, तबतक उसमें मानवत्व रहता है। किन्तु जब वह भागवत-धर्मका पालन करता है, तो वह मानव, देव, दानव, पशु, पक्षी आदि भेदोंसे ऊपर उठ जाता है।

एक सन्त हिमालयमें बदरीनाथसे भी ऊपर वसुधाराके पास रहते थे। मैंने उनसे पूछा : 'आखिर आपका लक्ष्य क्या है?'

बोले : 'मेरा कोई लक्ष्य नहीं।'

'करते क्या हैं?'

'गायत्री-जप करता हूँ।'

'इस जपसे पाना क्या चाहते हैं?'

'मनमें कोई इच्छा नहीं है।'

लेकिन पीछे वहीं कुटिया बनवानेकी उन्हें इच्छा हो गयी। कुटिया बनवानेके लिए जमीन खरीदी और चन्दा करने बम्बई

आये। जब कुटिया बनवानेके लिए चन्दा करने बम्बई आ सकते हैं, तब खाने-पीनेके लिए भी तो चन्दा कर सकते हैं। ईश्वरके प्रति प्रेम न होना सिद्ध और तपस्वीको भी संसारकी ओर फेंक देता है।

भगवान्ने प्रह्लादसे दो बातें कहीं : १. प्रतिदिन कथा सुनना और २. सत्संग करना। प्रह्लादने अपने राजत्वका अभिमान त्यागकर धरतीमें पड़े अवधूत दत्तात्रेयजीसे सत्संग किया।

यह बड़ा अच्छा लगता है कि अपने पुत्र-पत्नी, भाई-सेवक सब भजन करे; किन्तु भागवत-धर्मका कहना है :

> ज्ञातयः पितरौ पुत्रा भ्रातरः सुहृदोऽपरे।
> यद् वदन्ति यदिच्छन्ति चानुमोदेत निर्ममः॥ ७.१४.६

जातिके लोग, माता-पिता, भाई तथा दूसरे स्नेही-सम्बन्धी जो कहें या जो चाहें, ममतारहित होकर उसका अनुमोदन करते रहें।

'बेटेका विवाह अमुक स्थानपर हों, हम अमुक व्यापार करें' इस प्रकार जो कुछ घर-परिवारके लोग कहें, सबका अनुमोदन करें। यदि आप अपने मनकी बात उनपर लादना चाहें तो भगवान्के मनकी नहीं, अपने मनकी करते हैं।

'यह मेरा पुत्र है, मेरी पत्नी है, मेरे सम्बन्धी हैं' ऐसा न सोचें। संसारमें वे जो-जैसा करना चाहते हैं, करने दें। केवल भगवान्को अपना समझें। परिवारको अपना समझकर अपनी समझ उसपर न थोपें। उसमें भी भगवान् हैं। उसके मनको भी वे ही प्रेरणा देंगे।

> मृगोष्ट्र-खरमर्काखु - सरीसृप् - खग-मक्षिकाः।
> आत्मनः पुत्रवत् पश्येत् तैरेषामन्तरं कियत्॥ ७.१४.९

'हिरन, ऊँट, गधा, बन्दर, चूहे, सर्प, पक्षी, मक्खी जैसे हैं, वैसे ही अपने नाती-बेटे भी हैं। इनके लिए अपना हृदय क्यों बिगाड़ते हैं ?

भारतके एक बड़े प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। वे कहते : 'पहले परिवारको सुधरने दो, घरको सुधारने दो, जातिको सुधरने दो। यह क्या पशु-पक्षियोंसे मेल मिलाते बैठे हो ?'

× × ×

मनुष्यके दोषोंपर विजय प्राप्त करनेका एक कारगर नुस्खा है : **असङ्कल्पात् जयेत् कामम्**। जैसे कटहल (पनस) बहुत दुष्पाच्य है, पर उसे खाकर केला खा लो, तो वह स्वयं पानी होकर पच जायगा। इलायची खानेसे केला पच जाता है। इसी प्रकार मनमें काम हो, तो उसमें सम्यक्त्वकी कल्पना छोड़ दो। 'उस वस्तुसे सुख मिलेगा या वह वस्तु महत्त्वपूर्ण है, यह जीवनके लिए आवश्यक है' विवेकसे इस विचारको काटो, तो कामना निवृत्त हो जायगी।

अपनी कामनापर जोर न दो, तो क्रोध नहीं आयेगा। जब हमारे मनका नहीं होता, तभी क्रोध आता है। पर ईश्वरके मनको—सामनेवालेके मनको महत्त्व दो, तो क्रोध नहीं आयेगा।

'क्या अर्थ है, क्या अनर्थ है' इसपर विचार करो तो लोभ नहीं होगा।

एक मनुष्यका पाँच रुपया खो गया, तो वह बहुत दुःखी हो रहा था। किसीसे पूछा : 'तुम्हारे पास ये रुपये कहाँसे आये ? उसने कहा : 'चोरी की थी।' वह पाँच रुपया जब चोरी करके घरमें

लाया गया, तभी घरमें दुःख आया या जब चला गया, तब आया ? जब आपके घरमें पाँच रुपया चोरीसे आया और आप खुश हुए तो उसी समय आपने कहा : 'आ बैल, मुझे मार ! हे दुःख, अब तू मेरे घर आ जा !'

जब आपके पास अविवेक और बेईमानीसे पैसा आता है, तब दूसरोंको भी आपका धन छीनने, चुरानेका प्रोत्साहन मिलता है। तभी चोर-डाकू, पुलिस, टैक्स-अफसर आते हैं। पत्नी और पुत्र भी जेब या तिजोरीसे धन निकाल लेते है।

यदि किसीसे भय लगता हो कि 'भविष्यमें यह हमें दुःख देगा', तो पहले ठीक-ठीक जाँच कर लें। भूत दीखे तो जाँच करें कि 'आखिर वहाँ है क्या ?' तो भूत भाग जायगा। जांच न करेंगे तो भूत सिरपर चढ़ बैठेगा और बहुत कष्ट देगा।

यदि आपमें बनावट, दम्भ है तो अपनेसे बड़ेके सामने रहें।

एतत् सर्वं गुरोर्भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत्।

'यदि सद्गुरुमें भक्ति हो तो काम, क्रोध आदि सब दोष अपने आप मिट जायँगे।'

इस प्रकार बहुत-से मनोरोगोंके नुस्खे हैं।

× × ×

श्राद्ध या पितृपूजामें अधिक लोगोंको भोजन नहीं कराना चाहिए। मेरे पितामह मर गये तो मैं १६-१७ वर्षका था। काशीमें व्याकरण पढ़ता था। घर आया और अपने गुरुजीको पत्र लिखा तो उनका उत्तर आया : श्राद्धे कुर्यान्न विस्तरम्। श्राद्धमें विस्तार नहीं करना चाहिए। फिर अपनी ओरसे उन्होंने लिखा :

अङ्गवैगुण्यभयात्। 'क्योंकि इससे श्राद्ध विकलाङ्ग, विगुण, विकृत हो जाता है।'

श्रीमद्भागवतमें इस प्रसङ्गमें कहा है : 'देवताके कार्यमें दो ब्राह्मणोंको भोजन करायें और पितृकार्यमें तीन ब्राह्मणोंको अथवा दोनोंमें एक-एक ब्राह्मणको ही खिलाना चाहिए।'

अपने रसोइयेको, जमाईको, स्वजनको निमन्त्रित ब्राह्मणके रूपमें श्राद्ध या देवकार्यमें नहीं खिलाना चाहिए। स्वजनको अर्पित करने एवं विस्तार करनेसे श्राद्ध तथा देवकार्यका विनाश होता है। धर्मके कार्यमें विस्तार और स्वजनार्पण नहीं होना चाहिए। 'यह खुश हो जायगा तो हमारा अमुक काम बन जायगा' ऐसी आशा जिससे हो, उसे भी श्राद्ध या देवकार्यमें नहीं खिलाना चाहिए।

× × ×

विधर्मः परधर्मश्च आभास उपमा छलः।
अधर्मशाखाः पञ्चेमा धर्मज्ञोऽधर्मवत् त्यजेत्॥ ७.१.५१२

विधर्म, परधर्म, आभास, उपमा और छल—अधर्मकी ये पाँच शाखाएँ हैं। इन्हें अधर्म ही समझकर छोड़ देना चाहिए।

धर्मबाधो विधर्मः स्यात् परधर्मोऽन्यचोदितः।
उपधर्मस्तु पाखण्डो दम्भो वा शब्दभिच्छलः॥ ७.१५.१३

हम धर्म करें और उससे दूसरेके धर्ममें बाधा पहुँचे, इस प्रकार दूसरेके धर्ममें बाधा पहुँचाकर धर्म करना धर्म नहीं, अधर्म है। 'इसे विधर्म' कहा जाता है।

परधर्म—दूसरोंके लिए जो धर्म कहा गया है, उसे हम करने लगें। जैसे : सैनिकके लिए जो धर्म है, उसका पालन वेदपाठीको नहीं करना चाहिए। वेदपाठीके लिए जो धर्म है, उसका पालन सैनिक न करे। अपने लिए कहे धर्मको छोड़कर दूसरेके लिए कहे धर्मका पालन करेंगे, तो वह अधर्म होगा।

आभास—अपने मनसे, बिना विधि-निषेधके सोच लिया कि 'यह धर्म है।' ऐसे धर्मसे अहंकारका पोषण होगा। यह धर्माभास भी अधर्म ही है।

छल—ऐसे शब्दोंका प्रयोग करना कि मनुष्य धोखेमें पड़ जाय।

× × ×

श्रीमद्भागवतमें एक व्यावहारिक वेदान्तकी रूपरेखा है :

> भावाद्वैतं क्रियाद्वैतं द्रव्याद्वैतं तथाऽऽत्मनः।
> वर्तयन् स्वानुभूत्येह त्रीन् स्वप्नान् धुनुते मुनिः॥
>
> ७.१५.६२

भावाद्वैत, क्रियाद्वैत और द्रव्याद्वैत, तीनों जब जीवनमें उतरते हैं, तभी सच्चा अद्वैत होता है। ये तीनों नहीं उतरते तो सच्चा अद्वैत जीवनमें नहीं आ पाता।

अद्वैतका ज्ञान तो तुम्हें है—कार्य-कारणसे परे अधिष्ठान और स्वयंप्रकाश आत्मा दोनों एक हैं, यह ज्ञान है। लेकिन ये कार्य-कारण दो नहीं हैं :

> कार्यकारणवस्त्वैक्यमर्शनं पटतन्तुवत्।
> अवस्तुत्वाद् विकल्पस्य भावाद्वैतं तदुच्यते॥
>
> ७.१५.६३

जाग्रत् कारण है या सुषुप्ति? सुषुप्तिसे जाग्रत् और जाग्रत्से सुषुप्ति उत्पन्न होती है। वस्तु न कोई कारण है, न कार्य; दोनों एक ही हैं। कार्य-कारणभाव तो एकके संस्कारसे दूसरेमें आरोपित है। तात्पर्य यह कि व्यवहारमें भी शुद्ध ब्रह्म है। कार्य-कारणात्मक व्यवहार भी शुद्ध ब्रह्मात्मक—भगवद्रूप ही है; क्योंकि भेद नामकी कोई वस्तु है ही नहीं। इस निश्चयपर पहुँच जानेका ही नाम 'भावाद्वैत' है।

हम नेत्र बन्द करके समाधिमें जायँगे तब ब्रह्म मिलेगा, यह बात इसमें नहीं है। हम मरकर वैकुण्ठ जायँगे तब ब्रह्म मिलेगा, यह बात इसमें नहीं है। ब्रह्म कोई सात समुद्र-पार या सातवें आसमानमें रहता है, यह बात भी इसमें नहीं है। ब्रह्म तो साक्षात् प्रत्यक्ष है, यह दृष्टि भागवतकी भावाद्वैत-दृष्टि है।

यद् ब्रह्मणि परे साक्षात् सर्वकर्मसमर्पणम्।
मनो वाक्तनुभिः पार्थ क्रियाद्वैतं तदुच्यते॥

७.१५.६४

शरीर, मन और वाणीसे जितने कर्म हो रहे हैं, उसका अधिष्ठान, प्रकाशक एक अद्वितीय परमात्मा है। इसलिए ये सारे कर्म ही परमात्ममय हैं। धर्मके सम्बन्धसे यह दृष्टि 'क्रियाद्वैत' है।

आत्म-जाया-सुतादीनामन्येषां सर्वदेहिनाम्।
यत् स्वार्थकामयोरैक्यं द्रव्याद्वैतं तदुच्यते॥

७.१५.६५

अपने, पत्नीके, पुत्रके तथा दूसरे सब प्राणियोंके स्वार्थमें—कामनामें भेद न करना 'द्रव्याद्वैत' है।

मेरे परिचित कलकत्तेके श्री जयदयालजी कसेरा बड़े विनोदी थे। एकबार बोले : 'पण्डितजी ! आधा ज्ञान मुझे हो गया है, आधा शेष है।'

मैंने पूछा : 'आधा कैसे हो गया ?'

बोले : 'सबको अपना समझना, अपनेको सबका समझना, यही तो ज्ञान है ? मैं सबकी वस्तुको अपनी समझता हूँ। इतना ज्ञान मुझे हो गया; परन्तु अपनी वस्तु किसीकी नहीं समझता, इतना शेष है।'

अपना, पत्नीका और दूसरे सब देहधारियोंका—सबका अर्थ और सबका भोग एक ही है। इसमें पक्षपात करना योग्य नहीं है। अपनी देह, पत्नी या पुत्रके लिए भी पक्षपात मत करो। संसारमें किसी भी प्राणीके साथ अन्याय मत करो। उसकी वृत्तिका उपरोध मत करो। इसे 'द्रव्याद्वैत' कहते हैं। यह श्रीमद्-भागवतका वेदान्त है।

क्षित्यादीनामिहार्थानां छाया न कतमाऽपि हि।
न सङ्घातो विकारोऽपि न पृथङ् नान्वितो मृषा॥
७.१५.५९

पृथिव्यादिकी पदार्थरूपमें छाया भी नहीं है। ये न संघात हैं, न ब्रह्मके विकार। न ब्रह्मसे पृथक् हैं और न ब्रह्मसे अन्वित; ये मिथ्या हैं। परमात्माके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। एक अद्वितीय परमात्मा ही परिपूर्ण है।

१७ || सद्धर्म-प्रकरण

आठवें स्कन्धमें २४ अध्याय हैं। इसे सद्-धर्म-प्रकरण मानते हैं। २४ प्रकारकी प्रकृतियोंपर विजय पाना सद्-धर्म है। इस विजय द्वारा पचीसवें परमात्माको पाना है। इसके लिए सन्तोंने जिस धर्मका अनुष्ठान किया है, उसीका इसमें वर्णन है।

पहले चार अध्याय ध्यानका प्रकरण है, इसमें स्वाम्भुव मनु उपनिषद्का गान करते हैं: आत्मावास्यमिदं सर्वम्—'सबमें परमात्माको देखो।' भोग करते समय भी त्याग की भावना विद्यमान रहे। धनके लिए गीध मत बनो। संसारमें धन किसका है?

भोगसम्बन्धी निर्णय यह है कि उसमें त्यागका भाव रखो। अर्थसम्बन्धी निर्णय है कि उसे रोको मत, बहने दो। मोक्ष-सम्बन्धी निर्णय है कि सब कुछ परमात्मा है। धर्मसम्बन्धी निर्णय है: कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः (ईशोप० २)—धर्मानुष्ठान करते रहो। इस प्रकार यहाँ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थोंके सम्बन्धमें स्पष्ट निर्णय है।

मनु मोक्षकी दृष्टिसे इस उपनिषद्का पाठ कर रहे थे। इतनेमें उन्हें मारने असुर आये। भगवान्ने असुरोंको मारकर मनुकी

रक्षा की। तुममें ज्ञान हो तो समष्टिकी अन्तरात्मा तुम्हारी रक्षा करेगा।

× × ×

तीन अध्यायोंमें गजेन्द्रकी कथा है। राजा इन्द्रद्युम्न राज्य छोड़कर एकान्तमें रहकर आराधना करते थे। अगस्त्य ऋषि बड़े प्रसन्न हुए कि इतना बड़ा राजा होकर भगवान्‌की आराधनामें लगा है, तो इससे मिल आयें। यह महात्माकी कृपा थी।

किन्तु ऋषिके आनेपर राजा इन्द्रद्युम्न उठे नहीं, अपनी पूजामें ही लगे रहे। महर्षि अगस्त्यको क्रोध आया: 'यह भगवान्‌के सामने चार फूल, अक्षत रखता और समझता है कि मेरे बराबर संसारमें कोई भक्त नहीं!' शाप दे दिया: 'तेरा अभिमान बढ़ा है, अतः हाथी हो जा!'

इससे शिक्षा मिलती है कि सन्त-महात्मा यदि घरपर आ जायँ, तो एकबार पूजासे उठकर भी उनका आदर-सत्कार करें और पुनः पूजा करने बैठ जायँ। इससे भगवान् बहुत सन्तुष्ट होते हैं; क्योंकि भगवान् भी तो अपने भक्तोंकी भक्ति करते हैं। पूजा या ध्यानका कभी अभिमान नहीं करना चाहिए।

हाथी होनेपर भी उसे अर्थ मिला, काम मिला और जब उसके जीवनमें संकट आया, तो उसे भगवान्‌की स्मृति भी आयी।

ग्राहके जीवनमें भी एक बड़ी बात है। एक महात्मा सरोवरमें स्नान कर रहे थे। वह बड़ा सुन्दर गन्धर्व था। परिहासमें डुबकी लगाकर उसने महात्माका पैर पकड़कर खींच लिया। महात्माने शाप दिया: 'तू ग्राह जैसा आचरण करता है, अतः ग्राह हो जा।'

गजेन्द्रको ग्राहने पकड़ा, तो उसे भगवान्‌का स्मरण हुआ। भगवान्‌ने उसकी रक्षा की।

भगवान् ज्ञान, वस्तु, पूजा या नामोच्चारणसे रक्षा करते हैं, यह बात यहाँ चार अध्यायोंमें बतलायी गयी है। समझाया गया है कि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थ भगवान्‌के भजनसे ही प्राप्त होते हैं।

इसके बादके दस अध्यायोंमें दानका वर्णन है। भगवान्‌ने ही सबको सब वस्तुएँ दे रखी हैं। अतः मनुष्यको उनपर अपना स्वत्व नहीं मानना चाहिए।

अमृतका जितना महत्त्व है, सृष्टिमें विषका भी उतना ही महत्त्व है। किसी-किसी प्रसंगमें विष भी अमृत बन जाता है। हमारी सरकार सर्प-विष विदेशोंमें भेजकर डालर कमाती है : वारुणी भी समुद्र-मन्थनसे ही निकली है।

इन दस अध्यायोंमें वर्णन है कि भगवान् अपनी सृष्टिके लिए जो भी आवश्यक होता है, वह देते हैं। गायें, कल्पवृक्ष, घोड़ा, हाथी, वैद्य आदि तथा लक्ष्मी भी समुद्र-मन्थनसे निकली हैं। आप भी विवेककी मथानी लेकर भवसागरका मन्थन करें, तो उसमें से नवनीतकी भाँति परमेश्वर निकल आयेगा।

× × ×

नौ अध्यायोंमें बलिकी कथा है। भगवान्‌का वामनावतार हुआ। भगवान् वामन होकर आते हैं, फिर त्रिविक्रम हो जाते हैं। नन्हें-से भगवान् हृदयमें प्रकट होंगे और फिर पूरी सृष्टिको अपने भीतर नाप लेंगे।

अदिति-कश्यपका संवाद मानव-जीवनके लिए अत्यन्त उपयोगी है। कश्यपजीने पूछा : 'देवि ! उदास क्यों हो ? [यहाँ

यह नहीं पूछा कि 'साड़ी नहीं है ? या आभूषण है ? अथवा रोटी नहीं है ?] 'क्या तुम्हारे घरमें अतिथि आया और वह बिना भोजन किये लौट गया ? अथवा तुम्हारी पूजामें कोई बाधा पड़ गयी, इस-लिए उदास हो ?' [आज तो लोकरुचि ही विलक्षण हो गयी है !]

अदितिसे भगवान् वामन प्रकट हुए। भगवान्‌को बलिने जो दिया है, उसमें उन्होंने धर्मका फल, लोक-परलोक दोनों अर्पित कर दिये हैं। त्रिविक्रमका अर्थ है : जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—सत्त्व, रज, तम इन तीनोंको जो नाप ले। उसे नापनेपर भी यदि बलिको भगवान् थोड़ा तंग नहीं करते, बाँधते नहीं तो उनका अहंकार रह जाता कि 'हमने भगवान्‌को कुछ दिया।' इसलिए भगवान्‌ने दो पगोंमें लोक-परलोक नापकर कहा : 'तेरी प्रतिज्ञा पूरी नहीं हुई, तेरा धर्म पूरा नहीं हुआ।'

बलि : 'मैं तीसरा पग रखनेका स्थान आपको दूँगा।'

भगवान् : 'अब तेरे पास धरा ही क्या है ?'

बलि : **पदं तृतीयं गुरु शीर्ष्णि मे निजम्**—'तीसरा पग मेरे सिरपर रख दीजिये।'

कारण-शरीर तप गया तो भी अहंकार रह गया था। अहंकार तप गया, तो परिच्छिन्नता तप गयी फलतः बलि भगवान् बन गये और भगवान् बन गये बलिके सेवक, द्वारपाल।

× × ×

धर्मके साथ वेदका होना आवश्यक है। व्यक्तिकी प्रधानतासे धर्म नहीं है। समष्टि ज्ञानका आदेश धर्म है। वेदका अर्थ है, समष्टि-ज्ञान। इसी वेदकी प्रधानतासे अन्तमें एक अध्यायमें मत्स्यावतारकी कथा है।

१८ ‖ चन्द्र-सूर्य वंश

नवम स्कन्धके २४ अध्यायोंमें १२ अध्याय सूर्यकी प्रधानता और १२ अध्याय चन्द्रमाकी प्रधानतासे हैं। सूर्यवंशमें मुख्य रामावतार हुआ और चन्द्रवंशमें मुख्य कृष्णावतार। सूर्यको अग्नि, प्राण तथा बुद्धिप्रधान मानते हैं और चन्द्रमाको सोम, प्रियता तथा मनः-प्रधान। मनकी अधिदेवता सोम है। सोमका अर्थ आकाशमें दीखनेवाला चन्द्रपिण्ड नहीं। 'सोम' वह रस है, जो सम्पूर्ण जगत्में व्याप्त और सबके हृदयमें प्रियताके रूपमें प्रकट होता है।

नवम स्कन्धका पूर्वार्ध दुःख-निवारणपरक है और उत्तरार्ध सुख-प्राप्तिपरक। दुःख केवल दो अवस्थाओंमें होता है—जाग्रत् और स्वप्नमें। किन्तु सुख जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंमें होता है।

नवम स्कन्धमें भगवच्चरितों, भगवद्भक्तोंके चरितों, ज्ञानियोंके चरितों, ज्ञानियोंके सेवकोंके चरितों एवं भक्ति, योग, ज्ञान द्वारा तथा चरित-श्रवण द्वारा दुःख-निवृत्ति एवं सुखकी प्राप्तिका उपाय बतलाया गया है।

नवम स्कन्धमें बहुतसे चरित हैं। फिर भी किसीका केवल नामोल्लेख है, तो किसीका संकेतमात्र। उनके चरित दूसरे पुराणोंमें हैं।

नवम स्कन्ध समझनेका एक गुर है। सूर्यवंशमें श्रीरामका अवतार होनेवाला है, तो श्रीरामके पूर्वज उसीके अनुरूप हैं। उनमें कोई दो घड़ीमें मुक्ति प्राप्त करता है, कोई गङ्गा ले आता है, कोई समुद्र खोद देता है, कोई भगवान् कपिलको प्रसन्न करता है तो कोई योगचर्यामें ही बहुत निपुण है।

इसी प्रकार श्रीरामका चरित भी दुःख-निवारक है। उसमें दिखाया गया है कि ईश्वर भी यदि किसीसे आसक्ति करेगा तो उसे भी दुःखी होना पड़ेगा।

स्त्री-पुं-प्रसङ्ग एतादृक् सर्वत्र त्रासदायकः।
अपीश्वराणां किमुत गृहीनां दीनचेतसाम्॥ ९.११.१७

स्त्री-पुरुषकी आसक्ति है ही ऐसी कि सर्वत्र त्रास देती है। गृहस्थ-धर्ममें सन्तानोत्पादनमें दोष नहीं है; दोष है आसक्तिमें। महात्मा गांधीजी कहते थे : 'हम दोनों पहले खा लें, बाकी लोग खायें या न खायें', इसी मनोवृत्तिमें दोष है।'

श्रीरामका चरित तो लोक-व्यवहारका आदर्श है ही। श्रीरामके चरितमें सब सम्बन्धोंसे व्यवहारका आदर्श है। उसमें सत्सङ्ग है, तीर्थयात्रा है, तत्त्वज्ञान है। मनुष्य-जीवनमें जैसी पूर्णता होनी चाहिए, सबका आदर्श श्रीराममें हैं।

× × ×

नवम स्कन्धमें जो वैवस्वत मनुके दस पुत्रोंका वर्णन है, वे दसों पुत्र धर्मसे एक-एक विभागके आदर्श हैं। जैसे : मन्त्रिमण्डलमें दस मन्त्री हों और वे एक-एक विभाग सम्भालें, वैसे ही मनुके दस पुत्र धर्मका एक-एक विभाग सम्भालते हैं। उस-उस धर्मकी उनमें पूर्णता है।

एक पुत्र कवि थे, वे जन्मसे ही वैराग्यवान् हो गये। विवाह नहीं किया। उन्हें तत्त्वज्ञान हो गया। वे महात्मा बन गये। जैसे किसान पहले अपने खेतमें उत्पन्न अन्नमें से दसवाँ भाग ब्राह्मणके लिए निकाल देते थे, वैसे ही मनुके दस पुत्रोंमें से एक अवधूत—त्यागी हो गये। इसमें आदर्श है कि लोग घर-गृहस्थी, भोग, या धन कमानेमें ही सब कुछ न मान लें। यदि वैराग्यका–अवधूतका आदर्श संसारमें न हो, तो सृष्टिका ही लोप हो जाय।

मनुने दूसरे पुत्रको गुरु-सेवामें रखा, तो उसे झूठे ही कलंक लग गया : 'इसने गाय मारी।' गुरुने कहा : 'जातिसे बाहर हो जाओ।' उसने भगवान्‌को हाथ जोड़ा : 'प्रभु ! आपने बड़ी कृपा की, हमें राज्य-वैभवके मायाजालसे बचा लिया। उस तिरस्कारका उसने लाभ उठाया। अपना कल्याण कर लिया उसने विरक्त होकर।

तीसरे एकको भाइयोंने हिस्सा ही नहीं दिया गया। उसकी अनुपस्थितिमें ही परस्पर सब सम्पत्ति बाँट ली गयी। जब वह पढ़कर गुरुकुलसे आया, तो भाइयोंसे पूछा : 'मेरा भाग ?' भाइयोंने कहा : 'ये बूढ़े बाप तुम्हारा भाग है, इन्हींको ले जाओ।'

वह पिताके पास गया। पिता बोले : 'अच्छा, देखो एक यज्ञ हो रहा है, तुम वहाँ चले जाओ। वहाँ ब्राह्मण मन्त्र बोलते समय

क्रम भूल जायँ, तो तुम उन्हें बता देना। मुझे पता है कि मन्त्र बोलनेके क्रमका ज्ञान उन्हें नहीं हैं। वे इससे बहुत प्रसन्न होंगे। यज्ञसे बचा सब धन तुम्हें दे जायँगे।'

वह वहाँ गया और ब्राह्मणोंको उचित अवसरपर उसने मन्त्रका क्रम बतलाया। ब्राह्मणोंने यज्ञ पूरा करके कहा : 'यज्ञमें बचा सब धन ले जाओ।'

वह धन लेने लगा तो भगवान् रुद्र आ गये और बोले : 'यज्ञमें जो बचता है, वह मेरा भाग होता है। इसे तुम कैसे ले जाओगे?'

'ब्राह्मणोंने तो मुझे दे दिया है?'

रुद्र : 'अपने पितासे ही निर्णय करा लो!'

पुत्रकी बात सुनकर पिताने कहा : 'यज्ञ-शेष भाग तो रुद्रका ही होता है।'

वह लौटकर बोला : 'मेरे पिताने निर्णय दिया है कि यह सब आपका ही भाग है, अतः आप इसे ले लें। मुझे आपका भाग नहीं चाहिए।'

इससे भगवान् रुद्र प्रसन्न होकर बोले : 'तुम्हारे पिताने अप पुत्रके विरुद्ध न्याय किया और तुम उस न्यायको समुचित कहत हो। तुम्हारे जीवनमें धर्म है, अतः यह सब धन ले जाओ। साथमें तुम्हें ज्ञान भी देता हूँ।'

भगवान् रुद्रने उसे ज्ञानोपदेश किया। वह धन एवं ज्ञानसे भी सम्पन्न हो गया।

× × ×

अम्बरीष भागवत थे, पर दुर्वासा भी भागवत थे; यह ध्यान रखना चाहिए। अम्बरीष जन्मसिद्ध भक्त थे। उनका सर्वाङ्ग भगवान्‌की सेवामें लगता। पैरोंसे वे भगवान्‌की परिक्रमा करते। हाथोंसे मन्दिरमें झाड़ू लगाते। नेत्रोंसे भगवन्मूर्तिका दर्शन करते। कानोंसे भगवत्कथा सुनते। वाणीसे भगवद्-गुणानुवाद गाते। मनसे भगवान्‌से प्रेम करते। बुद्धिसे भगवत्स्वरूपका चिन्तन करते।

जहाँ बुद्धि एवं मनमें पार्थक्य हो जाता है, वहाँ सुखकी प्राप्ति नहीं होती। भगवान्‌का ही आश्रय और प्रेम भी उन्हींसे—जो ऐसा करेगा, सुखी हो जायगा। जो आश्रय तो भगवान्‌का ले और करे संसारसे प्रेम; या प्रेम भगवान्‌से करे, पर आश्रय तो संसारका ले, उसके जीवनमें दुःख ही आयेगा। अतः बुद्धि और मन दोनों एक स्थानपर लगाने चाहिए।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।—गीता

अपना कर्तृत्व और प्रियत्व दोनों भगवान्‌में लगाना चाहिए।

दुर्वासाजी शिवांश है। वस्तुतः वे परमभागवत हैं। भागवत-धर्मका रहस्य जानेवाले द्वादशाचार्योंमें एक शिवजी भी हैं। दुर्वासाजीको यश या प्रतिष्ठा नहीं चाहिए। वे अपने लिए कलंक लेनेको सदैव उद्यत रहते हैं, पर चाहते हैं कि भगवान् और भगवान्‌के भक्तोंका यश बढ़े। अम्बरीषकी भक्ति संसारमें प्रसिद्ध न होती, यदि बीचमें दुर्वासाजी न आते।

अम्बरीषने एक वर्ष एकादशीका निर्जल व्रत तथा द्वादशीमें पारणका नियम लिया था। वर्ष पूरा हो गया। अन्तिम एकादशीका व्रत भी पूरा हो गया। उद्यापन-पारणके दिन महर्षि दुर्वासा आ

गये। राजाने उनसे भोजन करनेकी प्रार्थना की। प्रार्थनाको स्वीकार करके दुर्वासाजी यमुना-स्नान करने चले गये। वहाँ जाकर डुबकी लगाकर समाधिमें बैठ गये।

अम्बरीषने दुर्वासाकी बड़ी प्रतीक्षा की, फिर भी वे लौटे नहीं। द्वादशी बहुत थोड़ी रह गयी थी। ब्राह्मणको निमन्त्रण देकर उससे पहले ही भोजन कर लेना उचित नहीं था।

ब्राह्मणोंसे पूछा। उन्होंने कहा: 'भगवान्‌का चरणामृत ले लीजिये। अशितं नाशितं च तत्—'इससे पारण भी हो जायगा और ब्राह्मणकी अवमानना भी नहीं होगी।'

राजाने चरणामृत लेकर पारण पूरा कर लिया।

दुर्वासाजी आये तो बे-मतलब नाराज हो गये। कृत्याका प्रयोग किया अम्बरीष पर; क्योंकि उन्हें संसारको दिखाना था कि भगवान्‌का चक्र अम्बरीषके पास रहकर क्या करता है?

भगवान्‌ने अपना प्रत्यनीक भयावह चक्र अम्बरीषको दिया था। उसने कृत्याको भस्म कर दिया और दुर्वासापर झपटा। दुर्वासाजी भागकर ब्रह्माके पास पहुँचे: 'बचाओ! बचाओ!' —कहते हुए।

ब्रह्माजी तो ब्राह्मणोंके पक्षधर हैं। बोले: 'अम्बरीषने तो ब्राह्मणोंके कहनेसे चरणामृत लिया था, इसमें उसका क्या दोष? निर्दोषपर रोष किया तो मैं कैसे बचा सकता हूँ।'

अन्तमें दुर्वासाजी विष्णु भगवान्‌के पास गये। भगवान्‌ने कहा: 'मेरी नहीं, मेरे भक्तकी महिमा बढ़नी चाहिए।'

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥
नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना। ९.४.६३-६४

भगवान् नारायणने कहा : 'दुर्वासाजी, मैं भक्तोंके पराधीन हूँ। परमस्वतन्त्रता होनेपर भी मैं भक्तोंका दास हूँ। अपने भक्त साधुओंके बिना मैं स्वयं जीवित नहीं रहना चाहता। साधु भक्तोंने मेरा हृदय अपनी मुट्ठीमें पकड़ लिया है।'

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥ ९.४.६८

'साधु मेरे हृदय हैं और मैं साधुओंका हृदय हूँ। मेरे अतिरिक्त वे औरको जानते, ही नहीं मैं भी उनके अतिरिक्त किसीको नहीं जानता।'

अन्तमें दुर्वासाजी जाकर अम्बरीषके चरणोंपर गिरे। अम्बरीष कितने निष्ठावान् हैं, यह देखिये। जबतक दुर्वासा लौटकर नहीं आये, पूरे एक वर्षतक उन्होंने भोजन नहीं किया। अम्बरीषने चक्रकी स्तुति की, दुर्वासाकी रक्षा की, बड़ी नम्रतासे उन्हें भोजन कराया।

दुर्वासाने अम्बरीषकी महिमाका गान किया। स्वयं दुर्वासाने अपनेको क्रूर दिखलाया और भगवान्को भक्तवत्सल ! उन्होंने अम्बरीषकी महिमा प्रकट की।

दुर्वासाजी द्वारा अन्यत्र दिये गये शापोंमें से भी प्रत्येकमें भगवान्की महिमा ही प्रकट होती है। इन्द्रको शाप दिया तो समुद्र-मन्थन द्वारा अमृत प्रकट हुआ।

दुर्वासाजीने अपनी जूठी खीर श्रीकृष्ण द्वारा उनके शरीरमें मलवा दी। इससे दिखलाया कि श्रीकृष्ण कितने ब्रह्मण्यदेव हैं!

× × ×

सौभरि ऋषि थे। यमुनातटपर तप करते थे। मछलियोंसे उन्हें स्नेह हो गया। गरुड़जी वैसे तो भगवान् विष्णुके कृपापात्र, परमवैष्णव हैं; किन्तु उनका आहार·····! वे एक दिन वृन्दावन आये और मछलीका भोग लगाया। इससे सौभरिको बड़ा क्रोध आया। उन्होंने शाप दिया : 'अबसे यहाँ मछली पकड़ोगे तो मर जाओगे।'

यह हुआ भक्तका तिरस्कार और मछलियोंका किया रक्षण। अब मछलियोंका परस्पर विहार देख उन्हें भी विवाहकी इच्छा हुई। फिर राजा मान्धाताके यहाँ गये और उनकी ५० पुत्रियोंसे विवाह किया, बच्चे हुए।

सौभरिको पता ही न लगे कि कब सूर्योदय होता है और कब सूर्यास्त। सन्ध्यावन्दन छूट गया, अग्निहोत्र छूट गया। बच्चे-कच्चेमें रम गये। एक दिन अचानक बोले : 'सूर्यास्त हो रहा है, सन्ध्या कर लें।'

पत्नी हँसने लगी। पूछा : 'हँसती क्यों हो?' 'इतने वर्ष हो गये, कितने सूर्योदय और सूर्यास्त हुए, आपने कभी सन्ध्या की है? क्या आज नया सूर्यास्त हो रहा है?'

पत्नीने तन्द्रा तोड़ी। सौभरि चौंके। सब छोड़-छाड़कर विरक्त हो गये। भागवतकार कहते हैं :

सङ्गं त्यजेत मिथुनव्रतिनां मुमुक्षुः
सर्वात्मना न विसृजेद् बहिरिन्द्रियाणि।
एकश्चरन् रहसि चित्तमनन्त ईशे
युञ्जीत तद्व्रतिषु साधुषु चेत् प्रसङ्गः॥

९.१८.५१

'योगीको चाहिए कि केलि-रत पशु-पक्षियोंका भी सङ्ग न करे, अकेला रहे। एकान्तमें रहकर चित्तको भगवान्में लगाये और साथ ही करना हो तो भगवद्भक्तों, सन्तोंका साथ करे।'

भगवद्भक्त गरुड़का आना जहाँ सौभरिने रोका था, उसी यमुनाके ह्रदमें आकर कालिय नाग रहने लगा। जहाँ भक्त नहीं आयेगा, वहाँ दुष्ट तो आयेगा ही।

× × ×

सौभरिकी भाँति ही महर्षि जमदग्निने भगवत्संकल्पमें बाधा डाली। जब सहस्रबाहु कामधेनुको छीनकर ले गया, तो परशुरामजीने उसे मार डाला। इसपर जमदग्नि बहुत नाराज हुए। परशुरामसे बोले: 'यह क्या किया? तुम्हें क्षमा और शान्ति धारण करनी चाहिए, समाधि लगानी चाहिए।

परशुरामजीने पिताकी आज्ञा स्वीकार कर ली। परशुरामजी तो तीर्थयात्रा कर आये; किन्तु जिन्होंने परशुरामजीको क्षमाका उपदेश किया था, उन्हींको अपनी पत्नीपर ही क्रोध आ गया। उनकी पत्नी रेणुका जल लेने गयी थीं। उन्हें लौटनेमें देर हो गयी; क्योंकि नदीमें चित्ररथ गन्धर्व अपनी स्त्रियोंके साथ जल-क्रीड़ा कर रहा था, उसे वे प्रेमसे देखने लगीं। पता लगनेपर जमदग्निने अपने पुत्रोंको आज्ञा दी: 'इसे मार डालो!'

पुत्रोंने पिताकी यह आज्ञा नहीं मानी तो और क्रोध आया। परशुरामजीसे बोले : 'अपनी माता और इन भाइयोंको भी मार डालो।'

तात्पर्य यह कि ईश्वर कभी क्रोध भी करे, तो भी उसीका साथ दे। कभी उसके विपरीत न जायँ।

परशुरामजीने पिताकी आज्ञा मानकर माता और भाइयोंको मार दिया। इससे जमदग्नि बहुत प्रसन्न हुए। बोले : 'बेटा, वर मांगो !'

परशुराम : ये सबके सब जीवित हो जायँ और मैंने इन्हें मारा था, इसका इन्हें स्मरण न हो।'

वे सब जीवित हो गये।

× × ×

सामर्थ्यवानोंमें भरत और धैर्यशालियोंमें रन्तिदेव अग्रणी हैं।

रन्तिदेव अड़तालीस दिनोंसे भूखे-प्यासे थे। इसके बाद अन्न-जल मिला तो वह भी अतिथियोंको आदरपूर्वक दे दिया। अन्तमें बचा जल भी एक प्यासे कसाईको पिला दिया।

भगवान्‌से उन्होंने प्रार्थना की : 'मैंने यह जो कसाईको जल अर्पण किया है, उससे मेरा आत्मा तृप्त हो गया। अब आप ऐसी कृपा करो कि हम सबके हृदयमें बैठ जायँ' :

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥
९.२१.१२

'हमें राज्य नहीं चाहिए, स्वर्ग नहीं चाहिए, सिद्धि नहीं चाहिए, और न मोक्ष ही चाहिए। हम चाहते हैं कि संसारमें कोई दुःखी न हो।

किसीने कहा : 'सबके हृदयमें भगवान् तो हैं ही। तुम वहाँ बैठकर क्या करोगे ?'

रन्तिदेव : 'भगवान् तो हैं; किन्तु वे असंग, साक्षी, निर्लिप्त रहते हैं। मैं चाहता हूँ कि सबके हृदयमें बैठकर सबका दुःख मैं ले लूँ। संसारके प्राणी दुःख न पायें।'

रन्तिदेवके सामने ब्रह्मा, विष्णु, शिव तीनों प्रकट हो गये।

× × ×

राजा यदुका वंश दिव्य-वंश है। इसी वंशमें भगवान् श्रीकृष्णने अवतार लिया।

नवम स्कन्धमें यदुवंशमें उत्पन्न एक स्त्रैण पुरुषकी कथा है। उसके कोई सन्तान नहीं थी। पति-पत्नी बड़े प्रेमसे रहते थे।

एक बार वह पुरुष कहीं विजय करने गया। शत्रुपर विजय प्राप्त हुई तो उसकी लड़की अपने रथपर बैठाकर ले आया। पत्नीने देखा तो बोली : 'अरे कपटी ! मेरे बैठनेके स्थानपर किस स्त्रीको बैठा रखा है ?'

घबड़ाकर वह बोला : 'यह तुम्हारी पुत्रवधू है।'

स्त्री : 'मेरे पुत्र तो है ही नहीं, पुत्रवधू कहाँसे आयेगी ?'

वह : 'तुम्हारे जो पुत्र होगा, उसके साथ इसका विवाह कर देंगे।

देवताओंने सोचा : 'संसारमें जितने स्त्री-भक्त हुए हैं, उनमें ऐसा कोई नहीं हुआ, अतः इसपर दया करो।'

स्त्री-भक्तोंमें वह ज्यामघ प्रथम माना गया। देवताओंकी कृपासे उसे पुत्र हुआ। उसी पुत्रसे हरण करके लायी उस लड़कीका विवाह हुआ।

× × ×

ययातिने बड़ा भोग किया, किन्तु भोगसे तृप्ति नहीं हुई। उनके वचन स्वर्णाक्षरोंमें लिखकर रखने योग्य हैं :

न जातु कामः कामनामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥
९.१९.१४

यदि कोई भोगवासनाको भोग द्वारा पूर्ण करना चाहता है, तो वह मिट्टीमें मिलनेका कार्य कर रहा है। यदि आप अपने हाथ-पैर, जीभ-कान, नाक-आँखको खुला छोड़ दें, तो वे विकीर्ण होकर जड़ हो जायँगे। यदि इनका नियन्त्रण करें, तुम देहेन्द्रियसे पृथक् चैतन्यके रूपमें प्रकाशित हो जायँगे। वासना भोगसे पूर्ण नहीं होती। वह तो अग्निमें घीकी आहुति डालनेके समान बढ़ती है।

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
न दुह्यन्ति मनःप्रीतिं पुंसः कामहतस्य वै॥
९.१९.१३

'पृथ्वीमें जितना अन्न है, सोना है, पशु हैं और स्त्रियाँ, वे सब एक कामनासे ग्रस्त पुरुषके मनको भी तृप्त नहीं कर सकतीं।'

संसारका सारा भोग मिल जाय, तब भी तुम्हें तृप्ति नहीं होगी। 'और-और-और' लगा ही रहेगा। सन्तोष करो तो रूखी-सूखी रोटी खाकर सन्तोष कर सकते हो। असन्तोषको हृदयमें स्थान दो, तो त्रिलोकीका राज्य मिलनेपर भी सन्तोष नहीं होगा। भगवान्‌का जन्म संतोषके वशमें है।

सदसस्पतयोऽप्येते ह्यसन्तोषात् पतन्त्यधः।

'जो सदसस्पति—राष्ट्रपति हैं, ब्रह्माकी सभाके अध्यक्ष हैं, वे भी यदि असन्तोषी हों, लोभी हों तो उनका भी पतन होता है।' पूर्णताके बाद अपूर्णता आती है। कोई बहुत बढ़ जायगा, तो उसका घटना भी प्रारम्भ होगा ही। अतः सन्तोष करो।

दशम स्कन्ध

१६ | श्रीकृष्ण-चरित : एक विचार

राजा परीक्षित कहते हैं :

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्
भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात्।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात्
पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात्॥
१०.१.४

भगवान्‌का चरित रसायन है। रसायन है तो अच्छे वैद्यके द्वारा निर्मित होना चाहिए। यदि वैद्य रोगीसे बहुत धन पानेकी इच्छासे दवा दे, लोभी हो तो उसकी बतलायी दवामें सन्देह होता है। यह दवा तृष्णारहित महापुरुषों द्वारा वर्णित है। **उपगीयमानात्**—इसका नुस्खा छिपाकर नहीं रखा। यह भव-रोगकी दवा है। ऐसा कौन-सा मनुष्य है, जिसे यह अच्छी न लगे?

आप जब कथा सुन रहे थे तो आपका दुःख, द्वेष सब भूल गया। एक मिनटके लिए जो आपके सारे दुःखोंको भुलाकर प्रत्यक्ष आपको सुख-समुद्रमें डुबा सकती है, उसे आप पाँच मिनट रखें या पाँच घण्टे।

जो लोग इस उत्तमश्लोकके गुणानुवादमें प्रेम नहीं रखते, वे तो आत्मघाती हैं। वे अपने ही सुखको अपनेसे दूर रखते हैं।

यह श्रोताकी श्रद्धा है। वक्ताकी श्रद्धा देखें। वे कहते हैं :

वासुदेवकथाप्रश्नः पुरुषांस्त्रीन् पुनाति हि।
वक्तारं पृच्छकं श्रोतृंस्तत्पादसलिलं यथा॥
१०.१.१६

भगवान्की कथाका प्रश्न पूछनेवाले, उत्तर देनेवाला और सुननेवालोंको भी पवित्र करता है। तुम्हारे हृदयकी वासनाको प्रक्षालित करनेके लिए यह गंगाकी धारा है।

कोई तर्क आपकी वासनाको शान्त नहीं कर सकता। आपके हृदयमें सोते हुए रसको जो तरंगायित करे, उस सोते भगवान्को जगाये, हृदयान्धकारमें छिपे नीलोज्ज्वलमणिको प्रकाशित करे, वही यह चरित है।

यह चरित कलिकल्मषघ्न है। आपके हृदयके कलिकल्मषको धोनेकी यह एकमात्र औषधि है।

हृदयमें प्रेमकी वृत्ति जगाकर उसे भगवान्के साथ जोड़ो। महात्माओंका कहना है कि 'ऐन्द्रियक प्रमाणके आधारपर जो लोग ईश्वरको अपने हृदयमें लाना चाहते हैं, वे कभी नहीं ला सकेंगे।' अनुमान बिना प्रत्यक्षके होता ही नहीं। अनुमानका फल भी प्रत्यक्ष ही होता है। अतः अनुमानसे भी ईश्वर अनुभवमें नहीं आ सकता। ईश्वरको हृदयमें लानेका एक ही उपाय है कि ईश्वरके विषयमें सुनो। ईश्वरके विषयमें सुननेके अतिरिक्त संसारको हृदयसे निकालने और ईश्वरको हृदयमें बैठानेका कोई दूसरा उपाय नहीं है।

जैसे वेदान्तमें माना जाता है कि बुद्धिका अधिष्ठानरूप परमात्मा जब एकबार बुद्धिमें बैठ जाता है, वृत्ति ब्रह्माकार हो जाती है, तो अविद्याका नाश हो जाता और परमात्माकी अद्वितीयता निरावरण हो जाती है। इसी प्रकार ईश्वरका अवतार है।

वसुदेवके मनमें ईश्वरका आना अवतार है। देवकीके मनमें ईश्वरका आना अवतार है। **सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितम्**—वसुदेवका अर्थ है' शुद्धान्तःकरण। देवकी माने ईश्वर-ग्राहिणी बुद्धि, ईश्वराकारवृत्ति।

अनवतीर्ण ईश्वर हमारे चित्तके विक्षेपको मिटा नहीं सकता। वह हमारी बुद्धिवृत्तिमें अवतीर्ण होकर ही हमारे दुःखको मिटाता है। श्रीकृष्ण अवतार लेकर ही पूतना, कंसादिको मारते हैं।

यह अवतीर्ण ईश्वर हमारे नेत्र, हमारे मन, हमारी बुद्धि सबको खींचनेवाला है। निराकार ईश्वरकी विशेषता है कि वह मिलता नहीं है। तुम उससे प्रेम करो दूसरा, संसार छूटेगा। पहले मिलता है, प्रेम करता है, तब दूसरेको छुड़ाता है।

यहाँ केवल पूतना, शकटासुरकी लीलासे हमारा अभिप्राय नहीं है। हमारा अभिप्राय तो वसुदेव-देवकी, नन्द-यशोदा, ग्वाल-बाल, गोपी तथा श्रीकृष्णके जितने प्रेमी हैं, सबके प्रेममें श्रीकृष्णके कैसे विवश होकर 'तेथेई-ताथेई' नृत्य करते हैं, यह समझाता है। आँखमें नाचे कृष्ण, कानमें नाचे कृष्ण, नाकमें नाचे कृष्ण, त्वचामें नाचे कृष्ण, कानमें नाचे कृष्ण। श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धका लीला-वर्णन तो परमानन्दमय है।

यह वैराग्यका मूल है। जब एक जगह रस आता है, तब दूसरा अपने आप छूटता है। जहाँ रसका उदय नहीं होगा, वहाँ

वैराग्य नहीं होगा। जो लोग वैराग्यसे शत्रुता करते हैं, वे कृष्णसे बचनेका प्रयत्न करते हैं। कृष्ण तो वैराग्यको मूल देवता है।

× × ×

श्रीकृष्णलीलाके प्रारम्भमें ही वसुदेव और देवकी दोनोंका भागवत होना प्रकट हुआ। भगवान्‌ने इन्हें पिता-माता बनाना पसन्द किया। भगवान्‌ने जिसे पसन्द कर लेते हैं, उसमें सब सद्गुण स्वतः आ जाते हैं।

शास्त्रमें कहा है : 'जिसने अपने जीवनमें भगवान्‌का दर्शन नहीं किया, उसका जीवन व्यर्थ। अथवा भगवान्‌ने जिसके जीवन-पर दृष्टि नहीं डाली, उसका जीवन व्यर्थ है।'

कंस वसुदेव-देवकीपर अत्याचार कर रहा है। विवाहके दिन ही खुली सड़कपर बहनकी चोटी पकड़कर तलवार लेकर उसका गला काटनेको तैयार होता है। लेकिन न वसुदेवके मनमें क्रोध आता है, न देवकीके मनमें। मानव-धर्मका तो यही कहना है कि ऐसी दशामें अपराधीको मार डालना चाहिए।

> आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्।
> गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
> नाततायिवधे दोषो भगवान् मनुरब्रवीत्॥

भगवान् मनुने कहा है : 'आततायीके चढ़ आनेपर बिना कुछ विचारे उसे मार ही देना चाहिए। भले ही कोई गुरु हो, बालक हो, वृद्ध हो या बहुत-से शास्त्रोंका पण्डित ब्राह्मण—यदि वह आततायी हो तो उसके वधमें कोई दोष नहीं है।'

लेकिन भगवान्‌के आविर्भावके लिए मनको छुट्टी दे देना ठीक नहीं। छुट्टी देनेसे तो मन पञ्चभूतोंसे मिलकर भौतिक बन जाता है, अनियन्त्रित हो जाता है। मनको जब पञ्चभूतोंसे—देहसे ऊपर उठाते हैं, तभी उसमें भागवत-सत्ताका आविर्भाव होता है। अतः शुद्धान्तःकरण वसुदेव हैं, तो बुद्धियोंका सन्निधान है देवकी।

वसुदेवजीने कंसको बहुत समझाया; किन्तु कंसकी समझमें बात नहीं आयी। कंसका अर्थ है, भेदबुद्धि। 'कसि हिंसायाम्, कसति, हिंसति हीनाति' जो अभिमान करे, हिंसा करे, दूसरेको हीन बनाये। जो अपनेसे किसीको छोटा करके रखता है, वह अभिमान है। देवकी-वसुदेवने इस अभिमानरूप कंसको हटा दिया।

× × ×

क्षीरसागर सात्त्विकताका समुद्र है—सात्त्वगुणका समुद्र, श्वेतवर्ण। उसीमें भगवान् अन्तर्हित रहते हैं। ब्रह्माजी रजोगुणके, रुद्र तमोगुणके। इन्द्रादि मिश्रित-प्रवृत्तियोंके रूप हैं। ये सबके सब जब सत्त्वोन्मुख हुए, तब उन्हें भगवान्‌की वाणी सुनायी पड़ी।

गर्भस्थ भगवान्‌की स्तुति ब्रह्मादि देवताओंने की। बिना छह (६ दोषों) के मरे भगवान् प्रकट नहीं होते। ये ६ असुर-बालक हैं, जो देवकीके गर्भमें पहले आये और मारे गये। सातवें शेष हैं, प्रकृतिरूप, मायारूप। उनको भगवान् पहले भेजते हैं, तब स्वयं प्रकट होते हैं।

इसके बाद भगवान् वसुदेवके मनमें आये। वसुदेवके मनसे देवकीके मनमें आये। इसे मानसी-दीक्षा कहते हैं। भगवान् देवकीके गर्भमें आते हैं। देवकीके गर्भसे मथुरामें प्रकट होकर गोकुल जाते हैं। यह परमब्रह्म परमात्माको मनकी प्रियता, बुद्धिमें तदाकार-

वृत्ति होकर विश्वमें स्थूलरूपसे प्रकट कर देनेकी प्रक्रिया है। सारी सृष्टि भगवन्मय हो जाय, यही भगवान्का गोकुलमें जाना है।

जो लोग समस्त जगत्को दिव्य बना देनेकी बात करते हैं, उनकी प्रक्रियाका यह प्रतीकात्मक वर्णन है—बुद्धिके आश्रयरूप भगवान्का बुद्धिमें आना और फिर इन्द्रियों द्वारा प्रकट होना : गो+कुल=इन्द्रियोंका कुल।

श्रीवल्लभाचार्यजीने इस बातको ऋग्वेदमें से पकड़ा। बादमें जयपुरके एक बहुत बड़े विद्वान् श्री मधुसूदन ओझाने इसे संकलित किया। योगी अरविन्दने इसी भागवत-प्रक्रियाको विस्तार दिया। इसका तात्पर्य है, सम्पूर्ण सृष्टिको भगवद्रूपमें अनुभव करना।

२० ‖ व्रजकी सम्बन्धमूलक भक्ति

ईश्वरमें गौरवमूलक भक्ति प्रायः सर्वत्र देखनेमें आती है। सर्वेश्वर, सबके स्वामी, सर्वनियन्ताके रूपमें ईश्वरकी आराधना सर्वत्र प्रचलित है; किन्तु व्रजकी आराधना गौरवमूलक ईश्वरकी आराधना नहीं है। वह सम्बन्धमूलक, प्रेममूलक आराधना है।

मुख्यरूपसे उपासनामें पाँच वृत्तियाँ मानी जाती हैं: १. आत्मभाव: शान्तरस। सब ओरसे वृत्ति हटाओ और अपने हृदयमें भगवान्‌को देखो। २. दास्यभाव: सम्पूर्ण जगत्‌के नियन्ता, अन्तर्यामीका ध्यान-भजन करो। ३. सख्यभाव: आप और भगवान् दोनों बराबर हैं। ४. वात्सल्यभाव: भगवान् आपके नन्हें शिशु हैं। ५. माधुर्यभाव: भगवान् आपके परम प्रियतम, प्राणपति हैं। आपके मनमें जिस प्रकारकी वृत्तिकी प्रधानता हो, उसी प्रकारसे भगवान्‌से सम्बन्ध बनायें। अपना सम्पूर्ण प्रेम प्रभुके साथ जोड़ दें। इससे संसारके सबके सब दुःख कट जायँगे।

× × ×

ऋग्वेदका मन्त्र है:

यत्र गावो भूरिश्रृङ्गा अयासन्।

भगवान् वहाँ रहते हैं, जहाँ बहुत सींगोंवाली गायें रहती हैं।

भक्तिके तीन रूप होते हैं : १. वैधी, २. रागानुगा और ३. रागात्मिका। व्रजभूमिमें गोपियों, ग्वाल-बालों, मैया यशोदा, बाबा नन्द आदिमें जो भक्ति है, वह रागात्मिका भक्ति है। यदि इनके जीवनमें रहनेवाली भक्तिको हम अपने जीवनमें उतार लें, तो उसका नाम 'रागानुगा' भक्ति होगा।

उद्धव जिस समय व्रजमें आये हैं, प्रत्येक गली स्वच्छ थी। गोपोंके घर सजे थे। बैल लड़ते रहे, कूदते रहे। गायें दूध चुवाती चल रही थीं। बछड़े उछल रहे थे। गोपियाँ गा रही थीं। घर-घरमें दधि-मन्थन हो रहा था। प्रतीक्षा चल रही थी : 'आज कृष्ण आयेंगे ! कृष्ण आयेंगे !'

श्रीकृष्णके लिए सब घरोंमें ताजा माखन रखते, दूध गरम होता, माला बनायी जाती। प्रत्येक घरकी यह दशा थी। निराशाका नाम नहीं था। प्रेमसे बढ़कर आशाजनक कोई नहीं। प्रेममें आकांक्षा होती है, आशा होती है, परीक्षा होती है, उत्कण्ठा होती है, व्याकुलता होती है। प्रेम मनुष्यके जीवनको कभी निराश नहीं करता। प्रेमी अपने प्रियतमपर कभी अविश्वास नहीं करता।

× × ×

एकदाऽर्भकमादाय स्वाङ्कमारोप्य भामिनी।
प्रस्नुतं पाययामास स्तनं स्नेहपरिप्लुता॥
पीतप्रायस्य जननी सा तस्य रुचिरस्मितम्।
मुखं लालयती राजन् जृम्भतो ददृशे इदम्॥

१०.७.३४-३५

गोरी-गोरी यशोदा मैया एक दिन नीलसुन्दरको गोदमें लेकर दूध पिला रही थीं। जैसे सच्चिदानन्द सरोवरमें कोई नीलकमल खिला हो।

अनाघ्रातं भृङ्गैरनुपहतमूर्वीस्तनभरैः।

जिसको भौरोंने कभी सूँघा नहीं। जिसपर जलकी लहर कभी लगी नहीं।

दूधकी बूँद पड़ गयी साँवरेके मुखपर। कभी मैयाके नेत्रोंकी ओर देखें, कभी प्रेमसे दूध पियें। मैयाको लगा : 'अधिक पी लेगा तो अपच हो जायगा।'

प्रेम अपना ही सुख-स्वार्थ नहीं देखता। प्रियका स्वार्थ, प्रियका सुख देखा जाता है प्रेममें। प्रेम भोगमें योग है, शृङ्गारमें त्याग है, मधुरतामें शान्ति है प्रेम। प्रेम वियोगमें भी संयोग और संयोगमें भी वियोग है। प्रेममें मरना जीवन है। प्रेममें विष अमृत है। प्रेम सृष्टिकी प्रकृतिको बदल देता है। प्रेम कभी घटता नहीं। प्रेम हृदयको तरंगायित करता है। प्रेममें सदा अनुकूलता ही नहीं, प्रतिकूलता भी रहती है। यदि प्यारसे दुलारते हैं, तो मारते भी हैं। प्रेम खिलाता ही नहीं, भूखा भी रखता है।

मैयाके मनमें लालाके अपचकी आशंका हुई :

अनिष्टाशङ्कीनि बन्धुहृदयानि भवन्ति।

अपने प्रियके अनिष्टकी आशंका मनमें जल्दी आती है। अब मैया दूध पिलाना कैसे रोक दें? पहले आँखसे आँख मिलायी और चूम लिया। श्यामसुन्दर मुस्करा गये। दूध पीना भूल गये; किन्तु हँसी आ गयी। साथ ही जम्हाई ली। 'मैया, तू डरती क्यों

है ? देख, मेरे पेटमें तो पूरा संसार बसता है। तू केवल मेरी ही नहीं, सबकी माँ है। मेरे पेटमें बैठकर सब तेरा दूध पी रहे हैं!' —मानो जम्हाईसे श्यामसुन्दरने यही ऐश्वर्य दिखाया।

विश्वं विभागि पयसोऽस्य न केवलोऽहम्,
अस्मादर्दाशि हरिणा किमु विश्वमास्ये।

भक्तिरसायन : श्री हरिसूरि, ७.४१

'इस दूधका हकदार तो सारा संसार है, केवल मैं ही नहीं।'

लेकिन मैयाके सामने ऐश्वर्य तो वात्सल्यभावके सर्वथा विपरीत था। मैयाने कहा : 'मेरे लालाके मुखमें यह कुछ नहीं है। यह जो इसके मुखमें गड़बड़झाला दीख रहा है, वह मेरी निगोड़ी आँखोंका ही दोष है।'

निमील्य मृगशावाक्षी नेत्रे आसीत् सुविस्मिता।

मैयाने अपनी आँखोंको बन्द कर लिया।

लेकिन यह मत समझना कि प्रेममें केवल दुलार ही है। माटी खानेपर मैया साँटी (छड़ी) लेकर उगलवानेका ही प्रयत्न करती है। मटका फोड़नेपर ऊखलमें बाँध देती है।

भक्तोंने इन लीलाओंको भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणोंसे देखा है। श्री वल्लभाचार्यका कहना है : 'केवल यशोदा मैयाका मन अपनेमें लगानेके लिए भगवान् कृपापूर्वक ये लीलाएँ करते हैं।'

श्री रूपगोस्वामी, श्री जीवगोस्वामी, श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती आदि गौड़ीय आचार्य कहते हैं : 'यशोदा मैयाका इतना प्रेम है कि भगवान्को विवश होकर उनका बालक बनना पड़ा और उनके हाथों बँध जाना पड़ा। यह अनुग्रह नहीं, प्रेमकी महिमा है।

× × ×

वात्सल्य-स्नेहकी अधीनताके श्रीमद्भागवतमें अनेक उदाहरण हैं। वात्सल्यमें ऐश्वर्यका लेश भी नहीं होता।

यहाँ सख्यरसकी अधीनता भी मिलती है। सखा कहते हैं :

दूर करो हरि आपनि गैयां।

'कृष्ण, हम तुम्हारे बापके नौकर नहीं हैं कि हम तुम्हारी गायें चराया करें और तुम मौज करो' : **ना हूँ चाकर नन्दबबाके।**

सख्यका यह भाव समान ख्याति है। श्रीकृष्ण ग्वाल-बालोंके बिना नहीं रह सकते और बालक कहते हैं : 'कृष्ण! हम तुम्हारे बिना एक ग्रास नहीं खा सकते।'

कृष्ण कहते हैं : 'मित्रो! मैयाने जो ताजा नवनीत निकाला था, वह मैंने घरमें नहीं खाया। उसे लेकर आया हूँ कि तुम्हें खिलाकर खाऊँ।'

वेदमें आया है : **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया**—जीव और ईश्वर दोनों सखा हैं। दोनों अनादि, और दोनों एक ही हृदयमें रहते हैं। **तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति**—उनमें जीव भोग-भोगकर सुखी होते हैं; किन्तु ईश्वर जीवोंको खिलाकर सुखी होता है।

× × ×

इन्द्रको अपनी भेंट-पूजाका आग्रह हो गया था। इतना आग्रह हो गया था कि जब व्रजवासियोंने इन्द्रकी पूजा नहीं की, तो इन्द्रने मेघोंको—**पशून्नयत संक्षयम्**—आज्ञा दे दी कि पशुओंको नष्ट कर दो।

श्रीकृष्णने अपने बायें हाथकी कनिष्ठिकापर गोवर्धन उठा लिया। भगवान्‌के हाथमें इन्द्रका निवास है। भगवान्‌ने कहा :

'तुम वर्षा करते हो तो करो, रक्षा करनेका भार भी तुम्हारे सिरपर हम रखे देते हैं।'

पर्वत लिये भगवान् सात दिन खड़े रहे। अर्थात् रक्षा करनेके लिए भगवान् सातों दिन सदा खड़े रहते हैं; किन्तु कर्मका देवता इन्द्र तो कभी सुख देता है, कभी दुःख। कर्ममें कभी पाप होता है, तो कभी पुण्य।

श्रीकृष्ण पर्वत लिये खड़े थे। ग्वाल-बाल उनके पास आये। बोले: 'कृष्ण! तुम्हें खड़े-खड़े सात दिन हो गये; तुम्हारे पैर दुखते होंगे, हाथ दुखते होंगे। तुमने नींद नहीं ली। आओ, यह पर्वत हम उठा लेते हैं। कुश्तीमें हम तुम्हें पटकते हैं, दौड़नेपर तुम्हें हम छू लेते हैं, तुम हमसे अधिक बुद्धिमान् भी नहीं हो; तुम पर्वत उठाये हो तो हम क्यों नहीं उठा सकते। लाओ, तुम्हारा हाथको दबा दें':

उन्निद्रस्य ययुस्तवात्र विरतिं सप्त क्षपास्तिष्ठतः
हन्त श्रान्तमिवासि निक्षिप सखे श्रीदामपाणौ गिरिम्।
... ...
दोष्णस्ते करवाम काममधुना सव्यस्य संवाहनम्॥

श्रीकृष्णने कहा: 'भैया, ठीक है। तुम्हारी सहायताके बिना मैं अकेले कबतक इसे उठाये रख सकता हूँ? आओ, तुम सब लठियाकी टेक लगाओ।' सबने लाठियाँ लगायीं।

'हंसदूत'-काव्यमें श्रीकृष्णके मथुरा जानेके बादका वर्णन है:

कंसारेर्विरहज्वरोऽग्निजनित - ज्वालावली - जर्जराः
गोपाः शैलतटे तथा शिथिलितश्वासाङ्कुराः शेरते।

मन्दं मन्दमखर्वलोचनजलैराप्लावयन् निश्चलान्
शोचन्त्यद्य यथा चिरं परिचयस्निग्धा कुरङ्गा अपि ॥

—श्री रूपगोस्वामी

ललिता सखी हँससे कहती हैं : 'तुम मथुरा जाते हो तो कृष्णसे बतलाना कि उनके सखा ग्वाल-बालोंकी क्या दशा है। गोवर्धनकी तलहटीमें देखो, ये कौन मूर्छित पड़े हैं? श्रीकृष्ण-विरहपीड़ासे पीड़ित ये ग्वाल-बाल विरहज्वालासे दग्ध हैं। इनकी श्वास नहीं चलती। जिनके साथ ये खेलते थे, वे इनके परिचित मृग इनके पास आकर इन्हें सूँघते हैं। उन मृगोंके बड़े-बड़े नेत्रोंसे झरती अश्रुधाराओंसे इनका शरीर धुल गया है। ये तो हिलते-डोलते नहीं, मृग अपने आँसुओंसे इनका मुख धो रहे हैं।

श्रीदामा आदि ग्वाल-बाल श्रीकृष्णसे एक दिन कहते हैं : 'पास-के वनमें तालके बड़े सुन्दर फल लगे हैं। उन्हें खानेका हमारा बहुत मन है। चलो, उन्हें हम खायें।'

बालक चाहते तो हैं वे फल श्रीकृष्णको खिलाना, पर कहते हैं अपने खानेकी बात कि 'हमें चलकर खिलाओ!' यह सख्यकी भक्ति है।

× × ×

निजाङ्गमपि या गोप्यो ममेति समुपासते।

गोपी अपने शरीरकी सेवा करती है—बालोंमें तेल लगाती है, सँवारती है, अच्छी साड़ी पहनती है, आभूषण धारण करती है। यह सब किसके लिए? अपने लिए या लोगोंको दिखानेके लिए? नहीं, इसीलिए कि उसे देखकर श्रीकृष्ण प्रसन्न होंगे। वे खाती हैं श्रीकृष्णके लिए कि, 'हमारा शरीर स्वस्थ नहीं

रहेगा तो कृष्णको आनन्द नहीं मिलेगा।' कृष्णको आनन्द मिले, इसलिए गोपी अपने शरीरकी सेवा करती है।

गोपियोंके प्रति श्रीकृष्णका प्रेम भी विलक्षण है। बरसानेकी साँकरी खोहमें एक दिन एक ओरसे श्रीकृष्ण और दूसरी ओरसे श्रीराधा आयीं। गली छोटी! श्रीकृष्ण आगे बढ़े, पर मनमें आया: 'इनके अंग इतने सुकुमार हैं कि यदि मैं हाथसे छू दूँगा तो इन्हें चोट लग जायगी।'

कृष्णके नेत्र बन्द हो गये—देखनेसे भी इन्हें क्लेश होगा, इस आशङ्कासे। दृष्टि हूको भार न सम्हारि सकति हैं। अतः मनहूके करन तें छुवत डरत हैं। राधाचरण विलुण्ठित रुचिरशिखण्डं हरिं वन्दे।

इस दिव्यप्रेममें काम या भोगकी उपस्थिति नहीं होती:

प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्।
इत्युद्धवादयोऽप्येनं वाञ्छन्ति भगवत्-प्रियाः॥

गोपियोंके मनमें काम नहीं, प्रेम है। वे अपने सुखके लिए कृष्णसे प्रेम नहीं करतीं। कृष्णको सुख पहुँचानेके लिए कृष्णसे प्रेम करती हैं।

एक ओर है प्रेमी, दूसरी ओर है प्रियतम और मध्यमें रखा है सुख। प्रेमी उसकी ढेरीको अपनी ओर खींचे तो काम है और प्रियतमकी ओर ठेले तो प्रेम है। यह भागवत-प्रेम—दिव्य-प्रेम केवल मनुष्यके जीवनको ही नहीं, केवल एक हृदयको ही नहीं, सम्पूर्ण विश्वको प्रेमरससे आप्लुत कर देता है।

पूतना, शकटासुर, तृणावर्त, बकासुर, वत्सासुर, अघासुर, अरिष्टासुर, केशी, कंसादि इसी शरीरसे परिवर्तित होकर भगवान्‌के भजनके योग्य नहीं बन सकते थे, तो भगवान्‌ने मारकर इनका उद्धार किया।

जिनके मतमें एक ही जन्म होता है, वे कहते हैं : 'मरनेके बाद तो कुछ है ही नहीं। फिर तो इस लोकमें आना ही नहीं है।' उनकी दृष्टिमें इस जीवनका बड़ा भारी महत्त्व हो जाता है। अतः वे कहते हैं : पापीको मत मारो, पापको मारो।'

हमारे यहाँ कहते हैं : पापी तो वस्तुतः कभी मरता ही नहीं। केवल उसके पाप करनेके उपकरण बदल दिये जाते हैं। इसलिए यदि कभी पापीके शरीरको मार डाला जाता है, तब भी पापीका आत्मा तो मरता नहीं। वह तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध, मुक्त होकर पापसे पृथक् हो जाता है।

इसलिए 'श्रीराम या श्रीकृष्णने हिंसा की' यह दोष भगवान्‌के चरितमें वे ही लोग लगाते हैं। जिस मतमें आत्मा शाश्वत है, उस मतमें शरीरको इतना महत्त्व नहीं दिया जाता, जितना दूसरे मतवालोंने दिया है।

भगवान् हिंसा-अहिंसा दोनों द्वारा जीवोंका कल्याण करते हैं। नहीं तो प्रलय करना अनुचित हो जायगा। प्रलय या कयामतको

तो वे धर्म भी मानते हैं! जो प्रलय करके जीवोंका भला कर सकता है, वह एक मनुष्यशरीरका वियोग करके भी उसका भला कर सकता है, ऐसा वैदिक सिद्धान्त है।

मन्येऽसुरान् भागवतांस्त्र्यधीशान्
संरम्भमार्गाभिनिविष्टचित्तान्।

ये असुर भी क्रोध या द्वेषसे भगवान्‌का ध्यान करते हैं। जब उनका वह ध्यानात्मक शरीर उनके असुरशरीरमें रहने योग्य नहीं रहता, तब भगवान् उन्हें उस असुर शरीरसे अलग करके भागवत-शरीर, दिव्य-शरीमें भेज देते हैं।

मरनेके बाद पूतना भी माता हो जाती है। मरनेके बाद शकटासुर चैतन्य हो जाता है। मरनेके बाद तृणावर्त चाचा हो जाता है।

हतारिगतिदायकः—श्रीकृष्णके चरितकी यह एक विशेषता है कि वे जिस शत्रुको मारते हैं, उसे आसुरीशरीरके स्थानपर दैवी-शरीर देते हैं। उसे अपना भक्त, अपना सेवक बना लेते हैं।

कुछ लोगोंके शरीर ऐसे होते हैं कि उन्हें बदलना आवश्यक नहीं होता। जैसे : कालिय नाग। उसे मारना आवश्यक नहीं था। इन्द्रका केवल अभिमान भगवान् तोड़ देते हैं। ब्रह्माके रचना-कौशलको हीनमात्र बना देते हैं। रुद्रकी प्रलय-शक्ति बाणासुर-युद्धमें कुछ काम नहीं आती, वे निद्रालु हो जाते हैं।

ब्रह्माको सृष्टि करनेके लिए जीव, अन्तःकरण, प्रारब्ध, प्रकृति, पञ्चभूत आदि चाहिए। ये सब हों, तब ब्रह्मा सृष्टि-निर्माण करते हैं। किन्तु श्रीकृष्ण बिना जीव, अन्तःकरण, प्रारब्ध, प्रकृति,

पञ्चभूतों तथा देश-कालके अपने आप ही अनेक रूप बना देते हैं। यह लीला ब्रह्माके सृष्टिकौशलको हीन बना देती है। इससे ब्रह्माका मोह-भंग हो जाता है।

एक प्रश्न है कि ये असुर भगवान्‌की लीलामें प्रवेश ही कैसे पाते हैं? ये इसीलिए भगवल्लीलामें प्रवेश पाते हैं कि इनके द्वारा भगवद्भक्तोंकी महिमा प्रकट होती है। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने बतलाया है: 'जब पूतना जैसी राक्षसी, लोकबालघ्नी, रुधिराशना, जिघांसावती भी केवल दूध पिलानेके कारण माताकी गति पाती है, तो जो प्रेमसे दूध पिलाती हैं, उन गायों एवं माताओंकी कितनी महत्ता है?' इस प्रकार पूतनाको सद्‌गति देनेसे माता यशोदाका उत्कर्ष सर्वोपरि हो जाता है।

श्रीकृष्णने शकटासुरको केवल पैरसे छूकर उसे सद्‌गति दी। तृणावर्तके वक्षःस्थलपर चढ़ गये और उसे सद्‌गति दे दी। बकासुरके मुखमें घुसकर उसे मुक्त कर दिया। वत्सासुरकी पूँछ और पैर पकड़कर उसे सद्‌गति दी। यमलार्जुनके भीतर प्रवेश कर उसका उद्धार किया। अघासुरके मुखमें प्रवेश करके उसे सद्‌गति दी। पापसे पाप हो; किन्तु उसमें श्रीकृष्णका अनुप्रवेश हो जाय, तो उसकी सद्‌गति हो जाती है।

इसमें भक्तिका एक और सिद्धान्त प्रकट किया गया है। इन कथाओंमें भागवत-धर्मकी शिक्षा दी गयी है। भक्तोंके जीवनमें असुर तब आते हैं, जब भक्तकी दृष्टि भगवान्‌से हटकर किसी दूसरी वस्तुपर जाती है। पूरे श्रीमद्भागवतमें इस दृष्टिकोणका निर्वाह किया गया है।

मैया यशोदाके घर पूतना आती है। श्यामसुन्दर शयन कर रहे हैं। पूतनाका सौन्दर्य देखकर व्रजवासी मुग्ध हो जाते हैं।

निरीक्षमाणे जननी ह्यतिष्ठताम् ।

मैया यशोदातक पूतनाकी ओर देखने लगी । भगवान्ने कहा : 'हम तो गोलोक छोड़कर तुम्हारे घर आये । बिना दाँतके नन्हें शिशु बनकर तुम्हारे सामने सो रहे हैं और तुम इस पूतनाकी ओर देख रही हो, तो लो हम पूतनाकी गोदमें चले जाते हैं ।' अर्थात् भक्तसे भगवान् तब रूठते, मान करते हैं, जब भक्त भगवान्को छोड़कर दूसरेकी ओर देखने लगता है ।

श्रीवल्लभाचार्यजीने इस लीलाका प्रतीकात्मक अर्थ दिया है : **अविद्या पूतना नष्टा** । 'पूतना अविद्या है । उसका ६ कोशका शरीर षट्कोशात्मक है । भगवान्के दुग्धपान करनेसे वह भवदीय हो जाती है ।'

'शकटासुर' जड़ताकी मूर्ति है । भगवान्के स्पर्शसे वह मुक्त हो जाता है । उस समय भी मैया दूसरोंकी ओर देखने लगी थी ।

समागतान् पूजयती व्रजौकसः ।

'तृणावर्त' तो तब आया, जब मैया श्रीकृष्णको छोड़कर घरके काममें लग गयी थी ।

वृक्ष गिरनेके समय भी मैया कृष्णको ऊखलमें बाँधकर काममें लगी थी ।

श्रीकृष्ण तो **घटं भित्वा पटं छित्वा** किसी भी प्रकार लोगोंका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करते हैं ।

'बकासुर' दम्भ है, उसे मारते हैं । वत्सासुर मोह-स्नेह है । जगत्में जो स्नेह है, उसे नष्ट करते हैं, 'व्योमासुर' जड़ समाधि है । जो भगवान्को छोड़कर केवल समाधिमें जाना चाहते हैं, वे अन्ततः

सिद्धि आदिसे असुर-भावापन्न हो जाते हैं। 'केशी' वेदरूप है और 'वृषभासुर' धर्मरूप है। जहाँ-जहाँ वेद या धर्ममें असुरभावानुविद्धता होती है, भगवान् उसमें से आसुरभावका तिरस्कार कर देते हैं और दैवीभाव प्रकट कर देते हैं। कंस तो असुरोंका नायक अहंकार है।

ग्वाल-बाल और बछड़े जब पापके—अघासुरके मुखमें घुस जाते हैं तो भक्तोंके पीछे भगवान् भी वहाँ प्रवेश करते हैं। जहाँ-जहाँ भक्त, वहाँ-वहाँ भगवान्।

× × ×

श्रीमद्भागवतमें भगवान्की लीलामें सम्मिलित होनेवाले पशु-पक्षी भी भागवत बतलाये गये हैं :

> गावस्तु कृष्णमुखनिर्गतवेणुगीत-
> पीयूषमुत्तभितकर्णपुटैः पिबन्त्यः।
> शावाः स्नुतस्तनपयः कवलाः स्म तस्थुः,
> गोविन्दमात्मनि दृशाश्रुकलाः स्पृशन्त्यः॥
>
> १०.२१.१३

जब श्यामसुन्दर, पीताम्बरधारी, मुरलीमनोहर किसी टीलेपर त्रिभंग ललितभावसे खड़े होकर वंशी बजाते हैं, तो गायोंके कान खड़े हो जाते हैं। वे वंशीध्वनिका रसास्वादन करने लग जाती हैं। मुखमें जो तृण हैं, उसे न निगल पाती हैं, न उगलती हैं। आँखोंसे आँसू बहते हैं, शरीर रोमाञ्चित हो जाता है। ज्यों-की-त्यों खड़ी हैं। इस प्रकार ये पशु भी भगवान्के भक्त हैं।

वृक्षोंपर बैठे पक्षी भक्त हैं :

प्रायो बताम्ब विहगा मुनयो वनेऽस्मिन्
कृष्णेक्षितं तदुदितं कलवेणुगीतम् ।
आरुह्य ये द्रुमभुजान् रुचिरप्रवालान्
शृण्वन्त्यमीलितदृशो विगतान्यवाचः ॥

१०.२१.१४

पक्षी वृक्षोंपर बैठे खुले नेत्रोंसे श्रीकृष्णका दर्शन कर रहे हैं। चुपचाप हैं, आनन्दमग्न हैं।

धन्याः स्म मूढमतयोऽपि हरिण्य एता
या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषम् ।
आकर्ण्य वेणुरणितं सहकृष्णसाराः
पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः ॥

१०.२१.११

हरिणियाँ धन्य हैं। बड़े-बड़े नेत्रोंसे अपने पति कृष्णसार मृगोंके साथ श्यामसुन्दरकी माधुरीका रसास्वादन कर रही हैं।

व्रजके वृक्ष भी भागवत हैं। श्रीकृष्ण वनमें निकलते हैं तो फल-फूलसे लदे वृक्ष श्रीकृष्णके चरणोंपर अपने उपहार लिये झुक जाते हैं।

नृत्यन्त्यमी शिखिन ईड्य मुदा हरिण्यः
कुर्वन्ति गोप्य इव ते प्रियमीक्षणेन ।
सूक्तैश्च कोकिलगणा गृहमागताय
धन्या वनौकस इयान् हि सतां निसर्गः ॥

१०.१५.७

श्रीकृष्णको देखकर कोयल 'कुहू-कुहू' बोलने लगती है। मयूर-नाचने लगते हैं। हरिणियाँ उन्हें देखने लगती हैं। पृथ्वी दूर्वाके

रूपमें रोमाञ्चित हो जाती हैं। वृक्षोंसे मधुक्षरण होने लगता है। कमल खिल जाते हैं।

इसका अर्थ है कि श्रीकृष्ण-सान्निध्यसे समग्र प्रकृति सुहावनी हो जाती है। दिशाएँ निर्मल हो जाती हैं। मन प्रसन्न हो जाता है। पृथ्वी मंगलमय हो जाती है ।जल स्वच्छ हो जाता है। वायु शीतल, मन्द, सुगन्ध बहने लगता है। अग्नि शान्त हो जाता है। आकाश अपने हीरे प्रकट कर देता है। समस्त प्रकृति भगवद्भाव-मयी हो जाती है।

यशोदा मैयाका प्रेम स्नेहप्रधान है, ग्वाल-बालोंका प्रेम मैत्री-प्रधान तो गोपियोंका प्रेम समर्पण-प्रधान है। वह अटूट है। आप भले ही गाली दे लें कृष्णको कि 'उन्होंने गोपियोंके साथ अन्याय किया।' लेकिन यदि कृष्ण वह अन्याय न करते तो संसारको पता ही न चलता कि गोपियोंके हृदयमें श्रीकृष्णके प्रति कितना अखंड प्रेम है। श्रीकृष्ण थोड़े दिनोंतक गोपियोंके मध्य रह लेते, पर पीछे उन्हें कोई जानता ही नहीं, श्रीकृष्णके विरहमें गोपियोंका प्रेम मूर्त हो उठा !

गोपियोंके प्रेममें कई विशेषताएँ हैं। उनके नेत्र प्यासे हैं :

तं गोरजश्छुरितकुन्तलबद्धबर्ह-
वन्यप्रसून - रुचिरेक्षण - चारुहासम् ।
वेणुं क्वणन्तमनुगै-रुपगीतकीर्तिं
गोप्यो दिदृक्षितदृशोऽभ्यगमन् समेताः ॥

१०.१५.४२

नदियोंकी तरह झुण्डकी झुण्ड गोपियाँ बही जा रही हैं। उनके नेत्र प्याससे व्याकुल हैं। दिनभरके बाद श्यामसुन्दर वनसे लौट रहे हैं। गायोंके खुरोंसे उड़-उड़कर धूलि उनके बालोंपर पड़ रही हैं।

नवघनपर मनो झीनी बदरिया, सोभा रस बरसावनी।
लटकि लटकि मनमोहन आवनी ॥

झूमि झूमि पद धरत भूमिपर, गति मातंग लजावनी।

यह सौन्दर्य देखनेके लिए गोपियाँ व्याकुल रहती हैं।

श्रीकृष्ण-दर्शनमें भी यदि गोपीको किसी दूसरेको याद आ गयो, क्षणभरके लिए भी श्रीकृष्णका विस्मरण हो गया तो अपनेको कोसती हैं : 'हाय हमें श्रीकृष्णकी याद छोड़ सौत क्यों याद आयी ?'

प्रेम में होता है :

आशाबन्धः समुत्कण्ठा नामगाने सदा रुचिः।

'आशाबन्धः'—प्यारे मुझे मिलेंगे ही। 'समुत्कण्ठा'—कब मिलेंगे ? शीघ्र मिलें। और 'नामगाने सदा रुचिः'—उसके द्वारा मिलनेके लिए प्रयत्न होता है, जिसके मनमें मिलनकी इच्छाका उदय होता है। यह इच्छा उसे शान्तिसे बैठने नहीं देती।

गोपियाँ बहाना बना-बनाकर श्रीकृष्णके दर्शनार्थ नन्दभवन जाती हैं। उन्होंने व्रत लिया। कात्यायनी देवीकी पूजा की। श्रीकृष्ण वहाँ पहुँच गये। कभी गोपी आती है, कभी कृष्ण जाते हैं। जीव-ईश्वरकी लीला ही ऐसी है।

चीर-हरणके बहाने श्रीकृष्णने परीक्षा ली कि 'ये हमारा अन्याय सह सकती हैं या नहीं ?' कोई प्रेमी हो और प्रियतमका अन्याय भी न सह सके तो प्रेमी कैसा ? न्यायकी माँग करनी हो तो धर्मात्मा बनो। प्रेमके मार्गपर चलनेमें तो प्रियतमका अन्याय भी प्यारा लगता है।

चीर-हरण 'आवरणभंग-लीला' है : जब ज्ञानमें आवरण-भंग होता है, काममें आवरण-भंग होता है, शरीरके निर्मलीकरणमें

आवरण-भंग होता है, तब रसानुभूति बिना आवरण-भंगके कैसे होगी ?

लज्जा शङ्का भयं ग्लानिर्विजुगुप्सा तथैव च ।
कुलं शीलं ज्ञातिरिति ष्टौह्य पाशाः प्रकीर्तिताः ॥

लज्जा, शंका, भय, ग्लानि, जुगुप्सा, कुलाभिमान, शीलका अभिमान जातिका अभिमान, ये आठ पाश हैं। ये उसमें बाधक बने रहते हैं। गोपियोंके इन पाशोंको भगवान्ने तोड़ा। सीधी बात यह है कि गोपियोंका प्रेम है, अतः श्रीकृष्णका अन्याय वे नहीं देख पातीं। उन्होंने कह दिया :

श्यामसुन्दर ते दास्यः करवाम तवोदितम्। १०.२२.१५

चीर-हरणके बाद श्रीकृष्णने ऐश्वर्य प्रकट करनेके लिए गोवर्धन-धारण किया। वरुणलोकमें अपने ऐश्वर्यका प्रदर्शन किया। वैकुण्ठका दर्शन गोपोंको कराकर अपना ऐश्वर्य दिखलाया। तब गोपियोंके साथ रास किया।

रासके प्रारम्भमें भगवान् द्वारा आकर्षण है। भगवान् सबको अपनी ओर नहीं खींचते। जिसे पसन्द करते हैं, उसीको खींचते हैं। **आनुकूल्यप्रातिकूल्याभ्यां व्यवस्था**—जिसे भगवान् अपनी ओर खींचना चाहते हैं, उसके हृदयमें अपनी प्रीति देते हैं। जिसे विमुख रखना चाहते हैं, उसके हृदयमें भोगासक्ति, दोषदृष्टि डाल देते हैं।

भगवान् द्वारा गोपियोंका समाकर्षण और गोपियोंद्वारा धन, कुल और सगे-सम्बन्धियोंका; अपने शृंगार, भोजन और लोक-परलोकका संन्यास रासके प्रारम्भमें ही है। जो ईश्वरको प्राप्त

करना चाहता है, उसकी दृष्टि यदि कहीं छोटी-मोटी बातोंमें लगी रह जाय, तो उसे ईश्वर-प्राप्ति कैसे हो ?

गोपियोंने धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षका भी संन्यास कर दिया। श्री वल्लभाचार्यजी कहते हैं : 'संसारमें नियम है कि जो भगवान् आदेश करें, उसका पालन धर्म होता है। भगवान्के आदेशके विपरीत जीवका भाव अधर्म होता है। लेकिन गोपियोंने इससे उलटा किया।'

भगवान्ने कहा : 'गोपियो ! लौट जाओ। तुम्हारा धर्म घर-गृहस्थीमें रहना है।

गोपियोंने कहा : 'नहीं, कृष्ण ! तुम्हारा उपदेश ठीक नहीं। हम जो सब कुछ त्यागकर तुम्हारे चरणोंमें आयी हैं, वही सच्चा धर्म है।'

भगवान्के गुणरूप वचनको अवगुण बना देना और गोपियोंके अवगुणरूप वचनको गुण बना देना, यह भगवत्-प्रेम, भागवत-धर्मकी विशेषता है।

श्रीकृष्णने धर्मका उपदेश किया तो गोपियोंके हृदयका विरह-वेग फूट पड़ा :

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसम्।
१०.२३.२९

विभो ! आपके लिए ऐसी निष्ठुर बात कहना उचित नहीं।' गोपियोंके हृदयमें काम नहीं था। तदर्थविनिवर्तितसर्वकामाः। काम अपनी हीनतामें-से निकलता है—'हम दुःखी है, हमें सुख मिले, हमें भोग मिले' यह हीनता, यह प्यास आयी कहाँसे ?

आप कभी रसमें डूबे हुए थे। वहाँसे निकले और उसे भूल गये। अब उस रसकी याद आपको सताती है। आप भटकते है—'यहाँ मिलेगा, वहाँ मिलेगा।' वह भगवद्‌विषयक रस हम विषयोंमें ढूँढ़ते फिरते हैं कि 'वह स्त्री-पुरुष, कपड़े-मकान, धन-कुर्सीमें मिलेगा।' पर ये तो सब अपने आप छूटते जा रहे हैं। इनमें उस सौन्दर्यकी प्राप्ति कहाँ ?

अस्त्रैरुपात्तमषिभिः कुचकुङ्कुमानि
तस्थुर्मृजन्त्य उरुदुःखभराः स्म तूष्णीम्।
१०.२९.२९

श्रीकृष्णके 'लौट जाओ' कहनेपर गोपियोंको अत्यन्त व्याकुलता हुई। वे कहती हैं: 'जो तुम बोल गये, वह तुम्हारे बोलने योग्य नहीं है। आपके मुखसे ऐसी बात शोभा नहीं देती। यह वाणी क्रूर है, नृशंस है।'

गोपियोंने धर्मका निर्णय दिया:

यत्पत्यपत्य - सुहृदामनुवृत्तिरङ्ग
स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम्।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा॥
१०.२९.३२

'जो सबका अन्तर्यामी परमेश्वर प्रत्यगात्मा है, वह तुम्हारे रूपमें प्रकट है, अतः उससे प्रेम करना सबसे बड़ा धर्म है।'

गोपियोंके लिए धर्म छोड़ना सरल नहीं था। वे पाश्चात्त्य-संस्कृतिसे प्रभाविता आधुनिका नहीं थीं। **दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च**—उनके लिए स्वजन छोड़ना, धर्म छोड़ना बड़ा कठिन था;

क्योंकि उनकी दृष्टिमें उनका संस्कार था। परन्तु उनकी बुद्धि—उनका प्रेम अद्वितीय है।

> वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुण्डलश्री-
> गण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम्।
> दत्ताभयं च भुजदण्डयुगं विलोक्य
> वक्षः श्रियैकरमणं च भवाम दास्यः॥
> १०.२९.३९

'तुम्हारे अलकोंसे घिरे श्रीमुखकी, कुण्डलशोभित कपोलकी शोभा देखकर, हँसीसे भरी चितवन देखकर, अभयदायी बाहुओं और लक्ष्मी—शोभाके एकमात्र धाम वक्षःस्थलको देखकर हम तुम्हारी दासियाँ हो गयी हैं, यह गोपियोंकी स्थिति है।

इस आवेदनके अनन्तर श्रीकृष्णके साथ उनका विहार है। इस विरहके लिए श्रीमद्भागवतमें कहा गया : आत्मारामोऽप्यरीरमत्। १०.२९.४२। श्रीकृष्णको 'योगेश्वरेश्वर' कहा गया है।

> रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिः यथाऽर्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः।
> १०.३३.१७

उन रमारमणने व्रजसुन्दरियोंके साथ ऐसी क्रीड़ा की, जैसे कोई बालक अपने ही प्रतिबिम्बके साथ खेले।

काम न गोपियोंको स्पर्श करता है, न श्रीकृष्णको।

> कामेन पूरितः कामः संसारं जनयेत् स्फुटम्।

जब कामनासे कामनाकी पूर्ति की जाती है, तब संसार उत्पन्न होता है। किन्तु जब निष्कामसे कामना-पूर्ति होती है, तब संसारकी उत्पत्ति नहीं होती।

क्रिया सर्वापि सैवात्र परं कामो न विद्यते।

सभी क्रियाएँ ज्योंकी त्यों हैं; किन्तु क्रियाएँ बाहर होती हैं और काम भीतर। यहाँ तो रसका समुद्र उमड़ रहा है। भोक्ता-भोग्यका कोई भाव ही नहीं। सूरदासजीने कहा है:

सदा एकरस एक अखंडित आदि अनादि अनूप।
कोटि कलप बीतत नहिं जानत बिहरत जुगल-स्वरूप॥
न आदि न अन्त बिहार करैं दोउ
लाल प्रिया में भई न चिन्हारी।

जैसे चिन्मात्रमें चिन्मात्रका विहार है, वैसे ही यह आनन्दमात्रमें आनन्दमात्रका विहार है। गोपियाँ आनन्द हैं, कृष्ण आनन्द हैं और रास आनन्दका तरंगायित समुद्र है।

देवर्षि नारदने 'भक्तिदर्शन'में जो कहा है: त्रिरूपभङ्गपूर्वकम्, उसका यह प्रत्यक्ष है। इनमें कौन रसिक, क्या रस और कौन रस्य है, यह भेद नहीं। जो रसिक है, वही रस हो जाता है। जो रस है, वही रस्य हो जाता है। जो रस्य है वही रसिक हो जाता है। यहाँ स्त्री-पुरुषका भाव रखकर विहार नहीं है। भोक्ता-भोग्यका भेद यहाँ नहीं रहता। सारा भेद ही यहाँ समाप्त हो जाता है। उत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार (१०.२९.४६)—काम ही स्तम्भित हो जाता है। स्वयं भगवान्‌में किसी प्रकारका कामावेश है ही नहीं।

× × ×

श्रीकृष्णके आस-पास नृत्य करते-करते गोपियोंकी दृष्टि अपने आपपर चली गयी।

मैया यशोदाकी दृष्टि पूतनापर गयी थी, तो उपद्रव हुआ था। ग्वाल-बालोंकी दृष्टि अघासुरपर गयी, तो उन्हें उसके पेटमें जाना पड़ा। एक सखा या माता दूसरेकी ओर देख भी लें, तो इससे उनके प्रेमधर्ममें कोई बाधा नहीं पड़ती; किन्तु गोपी भी दूसरेकी ओर देखे, वनकी शोभा ही देखने लगे, श्रीकृष्णकी ओर न देखे, ग्वाल-बालोंको या गोपियोंको देखे—ऐसा विघ्न गोपियोंके जीवनमें नहीं है। अन्य-दर्शनरूप बाधा गोपीके प्रेममें नहीं है। वहाँ स्वदर्शन-रूप विघ्न है। आत्मदर्शन ही यहाँ विघ्न है। यह प्रेमका गाम्भीर्य है।

तुम्हारे प्रियतम तुम्हें देख रहे हैं, तो उन्हें छोड़कर अपनेपर दृष्टि क्यों गयी? प्रेममें जो अनन्यता है, उसमें स्वदृष्टि भी विघ्न होती है। प्रेम वहाँ होता है, जहाँ अपने द्रष्टापनको प्रियतमपर निछावर कर फेंक दिया जाता है।

द्रष्टा-दृश्यका भाव जहाँ बना रहेगा, वहाँ न प्रेम होगा, न ज्ञान और न ब्रह्मबोध। रस-ब्रह्मकी अनुभूतिमें भी 'प्रियतम अन्य है और मैं अन्य', यह बाधक है।

आत्मानं मेनिरे स्त्रीणां मानिन्योऽभ्यधिकं भुवि।

१०.२९.४७

गोपियोंने अपनेको पृथ्वीकी मानिनी स्त्रियोंमें सबसे बड़ा समझ लिया। उनमें मान हुआ।

मान तो लौकिक रसकी अनुभूतिमें भी बाधक होता है। जैसे कोई कहे : 'एक अद्भुत खेल हो रहा है, देख आओ!' इसपर मानी बोले : 'मैं और खेल देखने जाऊँ?' तो वह खेलके रससे वंचित रह जायगा।

अहं बड़ा दुःखद है। गोपियोंकी दृष्टि जब कृष्णसे हटकर अपनेपर आयी तो कृष्णने कहा : 'अच्छा गोपियो, अब तुम अपने आपको ही देखो। समाधि लगाओ, मैं जाता हूँ।'

गोपियाँ अपनेको देखने लगीं, तो कृष्णका दीखना बन्द हो गया।

× × ×

रासमण्डलमेंसे सहसा श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो गये, तब दृश्य-दर्शनका उदय हुआ। अब तो गोपियोंने लता-वृक्षों और पशु-पक्षियोंसे कृष्णका पता पूछना प्रारम्भ किया और वे कृष्णमय हो कृष्ण-लीला करने लगीं। तब उन्हें श्रीकृष्णके चरणचिह्नोंका दर्शन हुआ। फिर तो श्रीकृष्णको युगल (राधा-कृष्ण) के रूपमें जाननेपर भी उनके मनमें ईर्ष्या नहीं हुई। श्रीकृष्ण एक गोपीको लेकर वनमें चले गये, यह जाननेपर भी गोपियोंके मनमें स्पर्धा, द्वेष या ईर्ष्याका उदय नहीं हुआ। अहं गया, ईर्ष्या गयी :

तन्मनस्का-स्तदालापा-स्तद्विचेष्टा-स्तदात्मिकाः।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः॥

१०.३०.४४

अपने घर, अपने शरीरकी भी उन्हें स्मृति नहीं रही। उनका मन, उनकी बुद्धि श्रीकृष्णमय, उनकी बातचीत, उनकी चेष्टाएँ श्रीकृष्णमय हो गयीं। वे श्रीकृष्णका गुणगान करती कृष्णमय बन गयीं। उन्होंने गोपीगीत गाया। उसके अन्तमें वे कहती हैं :

यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु
भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।
तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किंस्वित्
कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः॥
१०.३१.१९

'हम सोचती हैं कि तुम्हारे चरणोंको हम अपने वक्षःस्थलपर रखेंगी तो तुम्हें आनन्द आयेगा; किन्तु उस समय हमारे मनमें यह डर बना रहता है कि कहीं हमारे कठोर वक्षःस्थलसे तुम्हारे कोमल चरणोंको पीड़ा न पहुँचे। तुम्हें सुख पहुँचाते समय भी हमारा मन शंकासे संत्रस्त होता है।'

इसे 'महाभाव' कहते हैं। प्रियतमको सुख पहुँचाते समय भी शंका रहती है कि हमारी किसी भूलसे या अनजानमें उन्हें दुःख न पहुँच जाय। चिन्ता प्रियतमके सुखकी रहती है, अपनेको सुख देनेकी नहीं।

गोपियां कहती हैं : 'उन्हीं चरणोंसे तुम वृन्दावनमें विचरण करते हो, यह सोचकर हमारी बुद्धि भ्रमित होती है! हमारे प्राण व्यथित होते हैं।'

श्रीकृष्ण जब उनके मध्य प्रकट हुए, तो गोपियोंने उनसे प्रश्न किया : 'कुछ लोग ऐसे होते हैं जो प्रेम करनेपर प्रेम करते हैं। कुछ लोग प्रेम न करनेपर भी प्रेम करते हैं। कुछ लोग प्रेम करनेवाले और न करनेवाले दोनोंसे ही प्रेम नहीं करते। इनमें से अच्छा कौन?

भजतोऽनुभजन्त्येक एक एतद्विपर्ययम्।
नोभयांश्च भजन्त्येक एतन्नो ब्रूहि साधु भोः॥
१०.३२.१६

गोपियोंका तात्पर्य था : 'तुम हम लोगोंको छोड़कर छिप गये, यह तुम्हारे प्रेमकी कमी है।'

श्रीकृष्णने उत्तर दिया : 'जो प्रेम करनेपर प्रेम करते हैं, वे तो होते हैं व्यापारी।'

मैंने एक बार वृन्दावनमें देखा कि किसीने रसगुल्ला खाकर दोना फेंक दिया। कुत्तेके छोटे-छोटे पिल्लोंने वह दोना चाट लिया। दोना चाटनेसे मुखमें चाशनी लग गयी, पर वहाँ अपनी जीभ पहुँच नहीं सकती थी। तब एक पिल्लेने अपना मुख दूसरेके सामने कर दिया। उसने चाट लिया। फिर दूसरे ने अपना मुख पहलेके सामने कर दिया, उसने चाट लिया !

तो, यह भी प्रेम है, पर ऐसा प्रेम तो पिल्लोंमें होता है। प्रेम करनेपर प्रेम करना—स्वार्थार्थं तद्धि नान्यथा—तो केवल स्वार्थके लिए है, स्वार्थ न हो तो नहीं रहेगा।

'प्रेम न करनेपर भी प्रेम करते हैं, माता-पिता। सन्त प्रेम न करनेपर भी प्रेम करते हैं। जैसे अग्नि न चाहनेपर भी उष्णता देता है, सूर्य न चाहनेपर भी प्रकाश देता है, चन्द्रमा न चाहनेपर भी ज्योत्स्ना देता है, ऐसे ही जिसके स्वभावमें प्रेम भरा है, वह न चाहनेपर भी अपने प्रेमकी वर्षा करता है।

श्रीकृष्ण गोपियोंके प्रेम करनेपर भी उनके सामनेसे अन्तर्धान हो गये और गोपियाँ कृष्णके प्रेम न करनेपर भी उनसे प्रेम कर रही हैं, अतः गोपियोंका प्रेम बड़ा हुआ।

अब रहा, प्रेम करनेवाले और न करनेवाले, दोनोंसे ही प्रेम न करना। श्रीकृष्णने कहा :

भजतोऽपि न वै केचिद् भजन्त्यभजतः कुतः ।
आत्मारामा ह्याप्तकामा अकृतज्ञा गुरुद्रुहः ॥ १०.३२.१९

'चार प्रकारके लोग प्रेम करनेवाले और न करनेवाले दोनोंसे ही प्रेम नहीं करते : १. जिनकी समाधि लगी हो, वे आत्माराम । २. आप्तकाम, जिनको कुछ पाना न हो । व्यवहार तो कर रहे हों, पर आत्मज्ञानी हों । ३. कृतघ्न । और ४. जो भयंकर अपराधी हों ।'

यह उत्तर सुनकर गोपियोंने परस्पर एक दूसरीको देखा कि 'कृष्ण तो न पहली कोटिके हैं, न दूसरी कोटिके । समाधि इन्हें लगती नहीं और तत्त्वज्ञानी तो ये हैं ही नहीं । इन्हें यह पता न हो कि गोपियाँ हमसे प्रेम करती हैं, ऐसा भी नहीं । तो अकृतज्ञ है ? नहीं, भारी अपराधी हैं । हमारे इतना प्रेम करनेपर भी प्रेम न करना, कितना बड़ा अपराध है !'

श्रीकृष्णने गोपियोंका भाव समझकर उन्हें अपने प्रेमका रहस्य समझाया : 'गोपियो ! मैं जानता हूँ कि तुम्हारे हृदयमें मेरे प्रति कितना प्रेम है । लेकिन—

नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून्
भजाम्यमीषा - मनुवृत्ति - वृत्तये ।
यथाऽधनो लब्धधने विनष्टे
तच्चिन्तयाऽन्यन्निभृतो न वेद ॥
१०.३२.२०

एक गरीब था । उसके पास कुछ नहीं था । उसका काम चल रहा था । एक दिन उसे बहुत रुपये मिल गये । बड़ा प्रसन्न हुआ । थोड़े दिनों पीछे कोई चोर वे रुपये चुरा ले गया । अब वह छाती पीटने लगा : 'हाय पैसा ! हाय पैसा !'

लोगोंने समझाया : 'एक दिन तुम्हारे पास कुछ नहीं था, तो सुखी थे। न होनेपर जैसे सन्तुष्ट थे, वैसे ही अब रहो।'

वह बोला : 'अब तो धनमें मन उलझ गया।'

श्रीकृष्ण कहते हैं : 'मैं एकबार मिल लेता हूँ। फिर थोड़ी देरको अन्तर्धान होता हूँ तो नेत्रसे दूर हो जानेपर चित्तसे समीप हो जाता हूँ। बुद्धि मदाकार हो जाती है। गोपियो! तुमने मेरे लिए लोक, वेद, स्वजन सब कुछ छोड़ा दिया' :

एवं मदर्थोज्झितलोकवेदस्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः।
मया परोक्षं भजता तिरोहितं मासूयितुं मार्हथ तत् प्रियं प्रियाः॥
न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषाऽपि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना॥
१०.३२.२१-२२

'सब छोड़कर तुमने मुझ एकसे प्रेम किया। मैं अपने प्रेमियोंका हूँ। तुम आगे-आगे चलती थीं, मैं पीछे-पीछे तुम्हारे पैरोंकी धूलि अपने सिरपर लगाता चलता था।'

प्रेमका शास्त्र अनोखा है। इसमें मधुर-वैवश्य है। ईश्वर हाथ जोड़कर खड़ा हो जाता है सामने और कहता है :

अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूययेत्यङ्घ्रिरेणुभिः।

'मैं अपने प्रेमियोंके पीछे-पीछे चलता हूँ कि उनकी चरणरज मेरे ऊपर उड़कर पड़े, तो मैं पवित्र हो जाऊँ।'

एक बार वृन्दावनमें एक महात्माको एकने आमन्त्रित किया। वे आये तो मकान बन्द मिला। महात्माने साथवालोंको कहकर ताला तुड़वा दिया। घरमें ढूँढ़कर बर्तन, घी, आटा आदि जुटाया

और पूड़ी बनने लगी। पता लगनेपर जिनका मकान था, वे आये और हर्षसे नाचने लगे। बोले : 'आपने इसे अपना समझा !'

प्रेममें संकीर्णता नहीं होती। प्रेमकी दृष्टि उदार होती है।

गोपियोंके साथ श्रीकृष्णने रास किया। बिना सामरस्यके विहार नहीं होता। एक छोटा, एक बड़ा हो, तो छोटा जो बड़ेकी सेवा करता है, उसका नाम प्रेम नहीं, उसका नाम श्रद्धा है।

सारसका प्रेम इसीलिए सच्चा नहीं है कि उसमें संयोग-सुखमें इतनी तन्मयता है कि वह वियोगके दुःखको जानता ही नहीं। चक्रवाकको इसीलिए प्रेमका पता नहीं कि उसे केवल वियोगका ही अनुभव है, संयोगके सुखका अनुभव ही नहीं।

जहाँ संयोगमें भी वियोग दुःखका अनुभव होता है और जहाँ वियोगमें भी संयोगका सुख होता है, वह प्रेम है। प्रेम शारीरिक संगका नाम नहीं। वह मानसिक, आत्मिक संग है, जहाँ दोनोंका द्वैत मिट जाता है। जहाँ दो अहं गलकर एक हो जाते हैं, उसका नाम प्रेम है।

> याः पश्यन्ति प्रियं स्वप्ने धन्यास्ताः सखि योषिताः।
> अस्माकं तु गते कृष्णे गता निद्रापि वैरिणी॥

गोपियोंने कहा : 'सखि ! जो स्वप्नमें प्रियका दर्शन करती हैं, वे धन्य हैं। हमारे तो जबसे चले गये, तबसे नींद भी चल गयी।'

श्रीकृष्ण इन प्रेमप्राणा गोपियोंके साथ रास करते हैं। रासमें तीन प्रकारके मण्डल हैं :

१. अनेक गोपियाँ और एक कृष्ण। गोपियोंके मध्यवर्ती मण्डलमें श्रीराधा-कृष्ण। उन नटनागरके-नृत्यमें इतनी स्फूर्ति

है कि प्रत्येक गोपी अनुभव करती है कि कृष्ण मेरे सामने ही नाच रहे हैं।

२. दो-दो गोपियोंके मध्य एक कृष्ण नृत्य करते हैं। एक वृत्तिका उदय और विलय। सन्धिस्थलमें चैतन्य सामान्य!

३. प्रत्येक गोपीके साथ एक-एक कृष्ण नृत्य करते हैं।

जिस वस्तुकी तात्त्विक रूपमें व्याख्या नहीं की जा सकती, वह केवल मनोविनोद है। जहाँ दर्शन नहीं, वहाँ धर्म नहीं है। वहाँ अन्तरंग अनुभूति नहीं है। हमारा प्रेम दर्शन है, यह दोके एकत्वका दर्शन है।

अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय, इन सब कोशोंका पर्दा फाड़कर जहाँ परमेश्वर और जीवके ऐक्यकी अनुभूति प्रकट होती है, वहाँ प्रेम होता है।

× × ×

व्रजभूमि भगवान्‌का नित्य-निवास है :

हरेर्निवासात्मगुणैः रमाक्रीडमभून्नृप।

मथुरामें भगवान्‌का नित्य-सान्निध्य है :

मथुरा भगवान् यत्र नित्यं सन्निहितो हरिः।

व्रजभूमिमें एक ओर कालिय-ह्रद है, जिसका श्रीकृष्ण शोधन करते हैं तो दूसरी ओर ब्रह्मह्रद है, जहाँ अक्रूर वैकुण्ठ-दर्शन करते हैं। यमुना है, जिसमें श्री राधा-कृष्ण जल-विहार करते हैं।

यहाँ श्रीकृष्ण अग्निका पान करते हैं। वायुरूप तृणावर्तका शोधन करते हैं। आकाशरूप व्योमासुरको शुद्ध करते हैं। यहाँके

वृक्ष-लता सभी भागवत हैं। सभी प्रेममय हैं। उन्हें भी रोमाञ्च हो उठते हैं।

अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणाम्।

गोपियोंका प्रेम तो सृष्टिमें अद्वितीय है। गोपियोंके प्रेममें वाणी नहीं, प्रेम है। एक पक्ष है : 'श्रीकृष्ण श्रीराधाका नाम नहीं लेते। श्रीराधा भी श्रीकृष्णका नाम नहीं लेतीं।' पहले भारतमें यह प्रथा थी कि प्रेम हो या न हो, पर पति-पत्नी एक दूसरेका नाम नहीं लेते थे।

प्रेमाद्वयो रसिकयोरपि दीप एव
हृद्व्योम भासयति निश्चल एष भाति।
द्वारादयं वदनतस्तु बहिर्गतश्चेद्
निर्याति शान्तिमथवा तनुतामुपैति॥

'प्रेमका प्रदीप दोनों रसिकोंके हृदयमें निश्चल प्रकाशित होता है और हृदयको प्रकाशित करता है; किन्तु यदि यह मुखके द्वारसे बाहर आ जाय तो बुझ जायगा या क्षीण हो जायगा। यद दीप तो हृदय-मन्दिरमें ही संजोकर रखनेकी वस्तु है, मुखसे निकलनेकी वस्तु नहीं।'

प्रेममें अभिमान नहीं। प्रेममें 'मैं प्रेमी हूँ' यह भाव भी नहीं होता। श्रीराधा कहती हैं :

न क्षोदीयान् सखि मम पुनः प्रेमगन्धो मुकुन्दे।
क्रन्दन्तीं मां निजसुभगताख्यापनाय प्रतीहि॥
खेलद्वंशी-वलयिनमनालोक्य तं वक्त्रबिम्बं
ध्वस्तालम्बा यदहरहः हाप्राणकीटान् बिभर्मि॥

'सखि ! मेरे हृदयमें श्रीकृष्णके प्रति प्रेमकी गन्ध भी नहीं है। जब मैं उनके लिए चीखती-चिल्लाती हूँ, तो समझो कि मैं अपने सौभाग्यका विज्ञापन करती हूं। जिनके मुखारविन्दपर वंशी नृत्य करती गाती रहती है, उन श्यामसुन्दरके श्रीमुखको, जिनमें प्रेम प्रेमभरी चितवन, अनुग्रह-सनी भौहें हैं, आनन्दवर्षिणी मुस्कान है। उनका दर्शन किये बिना मैं जी रही हूँ। क्षण-क्षण काटनेवाले प्राणरूपी कीड़ोंको जिला रही हूँ। फिर भी तुम कहती हो कि मैं प्रेमिका हूँ। अभी तो मैंने प्रेमकी कल्पना भी ठीक-ठीक नहीं की कि वह होता कैसा है ? :'

प्रेममें विस्मृति नहीं है। प्रेममें स्मरण करना नहीं पड़ता। उलटे याद मिटानेके लिए प्रयत्न करना पड़ता है। गोपियोंका वर्णन है :

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेखनार्भरुदितो क्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचिन्तयानाः ॥

धन्य हैं वे व्रज-स्त्रियाँ जो गाय दुहती हैं, तो कृष्णके मुखमें गायका दूध जाता है। धान कूटती हैं तो साथ-साथ श्रीकृष्ण कूटते हैं। चक्की पीसती हैं तो कृष्ण सामने आकर बैठ जाते हैं।

वृन्दावनमें एक ८० वर्षकी बुढ़िया थी। अपने हाथसे आटा पीसकर रोटी बनाकर साधुओंको खिलाती थी। मैंने पूछा : 'मैया, तू पीसती कैसे है ?'

वह 'बाँका प्यारा, बांका प्यारा' कहती रहती। बोलती : "जब मैं पीसने बैठती हूँ, तो वह भी साथ आकर पीसने बैठ जाता है। वही पिसवाता है, मेरे हाथमें कहाँ जोर है ?'

× × ×

•यद् गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन्।

वृन्दावनकी गायें, पक्षी, पशु, वृक्षतक प्रेमके स्वरूप हैं। श्रीकृष्णके स्मरण और दर्शनसे यहाँके वृक्ष भी रोमाञ्चित होते हैं, इस प्रकारका वर्णन करते हुए यहाँकी रजको भी प्रेमी कहा गया है। ब्रह्माजी चाहते हैं कि वह उड़कर मेरे ऊपर पड़े। उद्धवजी चाहते हैं कि वह उड़कर मेरे ऊपर पड़े।

इसे मधुभूमि भी कहते हैं। मधुवन प्रसिद्ध ही है।

मधुवाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः।

माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः। मधु नक्तमुतोषसो

मधुमत् पार्थिवं रजः।

वेद कहते हैं कि वहाँ सबका सब मधुमय है। भगवान्‌की आराधनाका वही स्थान है, जहाँ आनन्द ही आनन्द, प्रेम ही प्रेम है।

वहाँ न संसारका शोक है, न मोह है; न भय है, न भ्रम है; न जरा है, न मृत्यु। जहाँ भगवान् हैं, वहाँ शोक नहीं, दुःख नहीं। ऐसी व्रजभूमिमें गोपी प्रेमकी ध्वजा हैं।

श्रीवल्लभाचार्यजी कहते हैं: 'गोपियोंको अपनानेके लिए भगवान्‌को अपना सम्पूर्ण सौन्दर्य, माधुर्य, प्रेम प्रकट करना पड़ा। गोपियोंके सम्मुख भगवान्‌ने अपनेको तनिक भी नहीं छिपाया।'

श्रीचैतन्य महाप्रभु कहते हैं: 'गोपियोंका प्रेम इतना है कि श्रीकृष्ण उनके सामने सम्पूर्ण रूपसे प्रकट होनेको विवश हो गये।

प्रेम और आनन्दकी भूमि व्रज है। वहाँ मधुर-वैवश्य है। मधुर-वैवश्यका ही नाम प्रेम है। जहाँ इतना माधुर्य है कि ईश्वर

अपनी ईश्वरता भूल जाय और प्रेमके पराधीन हो जाय, उसका वह पराधीन होना भी मधुर हो जाय, उसका नाम प्रेम है। यहाँ दबावमें आकर या दुःखी होकर पराधीन होना नहीं है।

मधुरवैवश्ये प्रेमस्वरूपम्—भगवान् गोपियोंके साथ धान कुटवाते हैं, चक्की पिसवाते हैं, घर लिपवाते हैं। गोपियोंको घरका काम भूल जाता है। तो कहती हैं : 'मनसे कृष्णको निकाल दो।'

एक दिन नारदजी वृन्दावन आये। देखा कि यमुनातटपर एक गोपी आसन लगाये ध्यान कर रही है। बोले : 'क्यों री ! कृष्णका ध्यानकर रही है ?'

गोपी : 'बाबा, चुप रहो ! उसका नाम मत लो। घरका आज कोई काम नहीं हुआ। जो काम करने जाती हूँ, वह आकर सामने खड़ा हो जाता है। अब प्राणायाम कर रही हूँ कि अपना मन वशमें हो जाय, उसकी याद ही न करे।'

प्रत्याहृत्य मुनिः क्षणं विषयतो यस्मिन् मनो धित्सते
बालेयं विषयेषु धित्सति ततः प्रत्याहरन्ती मनः।
यस्य स्फूर्तिलवाय हन्त हृदये योगी समुत्कण्ठते
मुग्धेयं किल तस्य चास्य हृदयान्निष्क्रान्तिमाकाङ्क्षति॥

'बड़े-बड़े ऋषि-मुनि प्राणायाम करके चाहते हैं कि कृष्णका ध्यान हो जाय और यह भोली गाँवकी गँवार ग्वालिनी कृष्णको अपने हृदयसे निकालनेके लिए प्राणायाम-प्रत्याहार कर रही है। यह है प्रेम।

जहाँ प्रेम है, वहाँ त्याग है, निरभिमानिता है, मौन है, निरन्तर स्मृति है। इस प्रेमके अनेक भेद होते हैं : १. विश्वास-प्रधान,

२. मैत्रीप्रधान, ३. मैं उसका हूँ। ४. मैं तेरा हूँ। ५. तू मेरा है। इन भावोंमें-से किसी प्रकारका प्रेम हो सकता है।

श्रीवल्लभ-सम्प्रदायमें अनेक कथाएँ हैं :

एक दिन एक सखीने श्रीराधासे कहा : 'स्वामिनी ! मैंने आज देखा है कि श्यामसुन्दर चन्द्रावलीके घर गये।'

श्रीकृष्णका स्वरूप ही है कि वे सबको अपनाते हैं। सबके घर जाते हैं। इसमें शरीरकी अवस्थाका कोई विचार नहीं है। श्रीकृष्णसे प्रेम करनेके अधिकारी सब अवस्थाके जीव हैं। उनसे पुत्रवती या वृद्धा भी प्रेम करती हैं और कुमारी भी।

श्रीराधाजी कहती हैं :

> सखि हे चर चरतु यथेष्टम्,
> वामो वा दक्षिणो वा भवतु।
> श्वास इव प्रेयान् मे,
> गतागतैः जीवयत्येव ॥

सखि, वे यथेष्ट विचरण करें। प्रतिकूल हों या अनुकूल; बायें चलें या दाहिने, वे तो मेरे प्राण हैं। उनका दाहिना होना भी मेरे जीवनका हेतु है और बायाँ होना भी। जैसे श्वासका निकलना मेरे जीवनका हेतु है, वैसे ही लौटना भी।'

प्रेम गुण, धन या अनुकूलताको नहीं देखता। प्रेममें दोष-दृष्टि नहीं होती।

> बिनु गुन जौवन रूप धन, बिनु स्वारथहित जान।
> सुद्ध कामना तें रहित, प्रेम वहै रसखान ॥

—प्रेम-वाटिका

गोपियोंके जीवनमें यह प्रेम पूर्ण प्रकट हुआ है। उद्धवने तो कहा—

भक्तिः प्रवर्तिता दिष्ट्या मुनिनामपि दुर्लभा।

'गोपियोंने ऐसी भक्ति की जो बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंको भी दुर्लभ, है। केवलं **ज्ञानिनामपि दुर्लभा;** क्योंकि जो दूसरी भक्ति होती है, वह सन्मात्रसे अनुविद्ध होती है, अर्थात् उसमें कर्म और समाधि होती है। बहिरंग कर्म निष्काम कर्म है और अन्तरंग कर्म समाधिके लिए प्रयत्न है। लक्ष्य है : 'हम प्रेम करते-करते तन्मय हो जायँ।' प्रेमके लिए डूबने-उतरानेका प्रश्न नहीं। उसमें डूबते भी हैं और उतराते भी हैं!

वेदान्तियोंने कहा : 'चिदनुविद्ध प्रेम है। उसमें ज्ञान ही ज्ञान और प्रकाश ही प्रकाश है।'

गोपियोंके जीवनमें भी ज्ञान देखनेमें आता है :

न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।

लेकिन प्रेममें ज्ञानका महत्त्व नहीं है। प्रेममें कर्म और कर्म-शान्तिका महत्त्व नहीं है। ज्ञान और अज्ञानका भी महत्त्व नहीं है। प्रेम केवल रसात्मक है। प्रेममें श्रृंगार भी त्यागसे बड़ा है। जहाँ रसानुभूति भी समाधिसे बड़ी है, जहाँ जड़ता भी ज्ञानसे श्रेष्ठ है, जहाँ झगड़ा भी शान्तिसे उत्तम है, जहाँ मान भी निरभिमानितासे श्रेष्ठ है, वही प्रेम है। गोपी प्रेमकी मूर्ति है!

● श्रीमद्भागवतमें रास-पञ्चाध्यायीके पीछेकी कथा है कि सब व्रजवासियोंने शंकरजीकी पूजा करनेके लिए अम्बिका-वनकी यात्रा की। वहाँ स्नान किया, दान किया, शिवजी और देवीकी पूजा की। रातको सब वहीं सो गये। तब सुदर्शन नामका गन्धर्व, जो अजगर हो गया था, वहाँ आया। वनमें रहनेवाले उस अजगरको भगवान्ने अपने चरण-स्पर्शसे सर्प-योनिसे मुक्त किया।

● द्वारिकामें जब श्रीकृष्ण प्रसेन तथा स्यमन्तकमणिको ढूँढ़ते जाम्बवान्की गुफामें चले गये और वहाँ सत्ताइस दिनों तक जाम्बवान्से द्वन्द्वयुद्ध करते रहे, तब द्वारिकावासी व्याकुल हो गये। उन्होंने जाकर देवीकी पूजा की। तब भगवान् देवी-मन्दिरमें ही उनके पास पहुँच गये।

● गोपियोंने श्रीकृष्णको पतिरूपमें पानेके लिए देवी कात्यायनीकी आराधना की।

इन घटनाओंका तात्पर्य है कि भागवत-धर्ममें शिव-विष्णुकी आराधनाओंमें कोई विरोध नहीं। एक मनुष्य यदि भागवत-धर्मके अनुसार चलता है, तो उसे देवी या शिवकी पूजामें कोई द्वेष या भेदबुद्धि नहीं होनी चाहिए।

× × ×

संसारमें भगवान्के साथ संयोग तो बहुत कम लोगोंको प्राप्त होता है, वियोग ही बहुत लोगोंको मिलता है। भगवान्के वियोगमें अपने दिन कैसे व्यतीत करें, इसके लिए युगल-गीत है। परस्पर

मिलकर श्रीकृष्णकी चर्चा करते हुए जैसे विरहिणी गोपियाँ अपना समय व्यतीत करती थीं, वैसा ही करना चाहिए।

× × ×

अक्रूर भागवत हैं। वे कंसके भेजे हुए हैं। तात्पर्य यह कि यदि अहंकार-प्रेरित होकर भी कोई भगवान्‌की ओर चल पड़े, तो उसे अहंकार भूल जायगा और उसके सामने भगवान् आ जायँगे। अहंकारी मनुष्य भी भागवत हो सकता है।

जैसे किसीने सोचा : 'बड़ा भारी मन्दिर बनवायेंगे। हम ऐसी पूजा करेंगे, जैसी संसारमें किसीने नहीं की।'

यदि ऐसे अहंकारसे प्रेरित होकर भी कोई भगवान्‌की ओर चले तो भगवान् अहंकारको क्षीण कर देते हैं। भले ही वह कितना ही बड़ा अहंकार हो।

मार्गमें अक्रूर सोचते गये : 'भगवान् मुझे ऐसे मिलेंगे, ऐसे मिलेंगे।' और जब भगवान्‌के चरणचिह्न पृथ्वीपर दीखे, तो—

रथादवस्कन्द्य स तेष्वचेष्टत।

रथसे उतरकर उनपर लोटने-पोटने लगे। कंस द्वारा भेजे जानेपर भी अक्रूर भगवान्‌की चरण-रजमें लोटने लगे।

× × ×

भगवान्‌के श्रीचरणारविन्दोंके अनेक प्रकारके प्रभाव श्रीमद्-भागवतमें वर्णित हैं। सनकादिकी नासिकमें भगवान्‌के चरणोंकी सुगन्ध पहुँची और उनका ब्रह्म-ध्यान छूट गया, शरीर रोमाञ्चित हो उठा, नेत्रोंसे अश्रु गिरने लगे।

एक स्थानपर भगवान्‌के चरणारविन्दोंके स्वादका वर्णन है। चरणामृतका ऐसा स्वाद मिला कि संसार भूल गया!

एक स्थानपर दर्शनका वर्णन है : **नखमणिचन्द्रिकया निरस्ततापे**। भगवान्‌के चरणोंके स्पर्शका, उनकी ध्वनिका, उनके चिह्नोंका वर्णन है : **वज्राङ्कुशध्वज-सरोरुह-लाञ्छनाढ्यम्**। भगवान्‌की चरणरजकी महिमाका वर्णन है।

अक्रूर भगवान्‌के चरण-चिह्नोंके भक्त हैं। वे भागवत हैं। वे जब श्रीकृष्णको मथुरा ले जाते हैं, तब पता लगता है कि व्रजके लोग श्रीकृष्णके कितने प्रेमी हैं।

× × ×

मथुरामें जाकर भगवान्‌को मथुराका शोधन करना पड़ता है। भगवान्‌ने व्रजके किसी निवासीपर हाथ नहीं उठाया। पूतना, बकासुर, अघासुर आदि बाहरसे आये थे। लेकिन मथुरा जाकर मथुरा-निवासियोंमें जो असुर थे—जो वहाँ धोबी था, धनुषके रक्षक थे, मुष्टिक-चाणूरादि पहलवान थे, जिनके हृदय आसुर भावाक्रान्त थे, उनका ध्वंस करके, कंसको मारकर इन सबको भगवान्‌ने भागवती गति दी।

कंसको मारनेके पश्चात् श्रीकृष्ण-बलराम देवकी-वसुदेवके चरणोंपर गिरे तो—**सस्वजाते न शङ्कया**। उन्होंने उठाकर हृदयसे नहीं लगाया। उनको लगा कि 'ये तो भगवान् हैं।'

सान्दीपनि मुनि भागवत हैं। उनका मरा पुत्र लाकर श्रीकृष्णने उन्हें दिया।

इनमें वसुदेव-देवकीका एक रूप है और सान्दीपनि मुनिका दूसरा रूप। एक जन्मदाता हैं, तो दूसरे शिक्षक।

× × ×

उद्धवजी भागवततत्त्वके एक विशिष्ट रूप हैं। श्रीकृष्णके द्वारा भेजे जानेपर वे व्रज आये। वहाँ नन्दबाबा और मैया यशोदाको

श्रीकृष्णकी महिमा बहुत सुनायी। नन्दबाबा तो सुनते थे और उद्धवसे बातचीत भी करते थे; किन्तु मैया यशोदाने उद्धवसे बात नहीं की।

शृण्वन्त्यश्रूण्यवास्राक्षीत् स्नेहस्नुतपयोधरा।

मैयाके स्तनोंसे दूधकी धारा बह रही है। नेत्रोंसे आँसू बह रहे हैं। वह सुन सब रही है, पर मुखसे वाणी नहीं निकलती।

गोपियाँ तो उद्धवके सामने पागल ही हो गयी। उद्धवजीने देवगुरु बृहस्पतिसे वेदाध्ययन किया था। शिष्यो बृहस्पतेः साक्षात् और वृष्णिवंशके मन्त्री थे, श्रीकृष्णके सखा थे; किन्तु व्रज आकर उन्होंने गोपियोंसे प्रेमकी दीक्षा ली और अन्तमें बोले :

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।

'ये गोपियाँ ही मेरी गुरु हैं। मैं यहाँ झाड़ी-लता बन जाऊँ, पर इन गोपियोंकी धूलि मुझपर पड़े। जन्म-जन्ममें मुझे ऐसा प्रेम प्राप्त हो।'

उद्धव व्रजसे लौटे तो श्रीकृष्णसे अप्रसन्न होकर बोले : 'कृष्ण ! तुम कंसको मारकर धर्म-स्थापन करनेमें लगे हो ? इसे छोड़ो। संसारमें धर्म-स्थापना नहीं होगी तो कुछ बिगड़ेगा नहीं। तुम इतनी प्रेमपूर्णा गोपियोंको छोड़कर मथुरामें रह कैसे रहे हो ?'

श्रीकृष्ण उद्धवको एकान्तमें ले गये और दिखलाया : 'रोम-रोम प्रति गोपिका।' बोले : 'उद्धव ! गोपियोंसे श्रीकृष्णके शरीरका गठन हुआ है। मेरे शरीरका एक-एक कण गोपी है। मेरी एक-एक मनोवृत्ति गोपीमें लगी हुई है।'

उद्धवको श्रीकृष्ण कुब्जाके घर यह समझाने ले गये कि 'जब मैं कुब्जाका भी त्याग नहीं करता, जो एक दिन मार्गमें मिली थी

और चन्दन लगा दिया था। यद्यपि बदलेमें मैंने उसे उसी समय सुन्दरी युवती बना दिया, फिर भी उसके यहाँ आया हूँ; तो अपना घर-द्वार, धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष सब पुरुषार्थ, स्वजन, लोक-परलोक सब छोड़कर जिन्होंने मुझसे प्यार किया, उन गोपियोंको मैं कभी छोड़ सकता हूँ ?'

× × ×

भगवान् अक्रूरके पास गये और उन्हें पाण्डवोंका समाचार लेने भेजा। अक्रूरके घर श्रीकृष्ण स्वयं गये। अक्रूरने कहा : 'हम धन्य हैं कि आप हमें अपनी आज्ञा-पालनका अवसर दे रहे हैं।

श्रीमद्भागवतमें एक-एक व्यक्ति भागवत है। जो भागवत नहीं हैं, उनके आसुरभावका नाश करके भगवान् उन्हें भागवत बना देते हैं।

× × ×

कंसकी दो पत्नियाँ थीं : अस्ति और प्राप्ति।

इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्।

'इतना हमारे पास है, इतना और हो जायगा। उसका क्या होगा, यह पता नहीं—यह आसुर मनोवृत्ति कंसकी है। ये अस्ति-प्राप्ति जरासन्धकी पुत्रियाँ हैं। जरासन्ध = चिज्जड़ग्रन्थि अर्थात् अध्यासकी ये बेटियाँ हैं।

कंस मर गया तो ये विधवा होकर पिताके पास—कर्ताके पास गयीं। जरासन्धने मथुरापर बार-बार चढ़ाई की, किन्तु उसे भगवान्‌ने सदैव पराजित किया।

२४ ‖ उत्तरार्ध : एक दृष्टि

लोगोंका ख्याल है कि श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धमें केवल श्रीकृष्ण-लीला ही है। लेकिन जीवनके जो सत्य हैं, उनको भागवत-धर्ममें उपेक्षा नहीं है। जीवनमें चार बातें आवश्यक हैं : १. मकान, २. यान, ३. चिकित्सा और ४. सुरक्षा।

हमारे पास वाहन भी श्रेष्ठ हो और भवन भी अच्छा। स्थापत्य-वेद, शिल्पकलामें हमें नैपुण्य प्राप्त हो। श्रीकृष्ण इसमें निपुण थे। द्वारिका उन्होंने कैसे बसायी ? विश्वकर्मा उनके सेवक थे। उनके पास वाहन ऐसे थे कि द्वारिकासे एक दिनमें एक अक्षौहिणी सेना विदर्भ पहुँचा दी गयी। उसमें हाथी, घोड़े, पैदल थे, अस्त्र-शस्त्र थे। इतनी बड़ी वाहन-शक्ति उनकी थी।

श्रीकृष्णको आयुर्वेद-चिकित्सामें नैपुण्य प्राप्त था। ऐसी उत्तम चिकित्सा उन्हें आती थी कि महाभारतके युद्धमें जब अर्जुनके घोड़े क्षत-विक्षत हो जाते, तो स्वयं ओषधि लगाकर तत्काल उन्हें स्वस्थ कर देते थे।

धनुर्वेदमें श्रीकृष्णको नैपुण्य प्राप्त था। वे अकेले लाखोंसे लड़ सकते थे। द्वारिकाकी उनकी सुरक्षा-व्यवस्था उस समयकी दृष्टिसे सम्पूर्ण थी।

श्रीकृष्ण सर्पके सिरपर नृत्य कर सकते थे। उन्हें स्थापत्यवेद, आयुर्वेद, धनुर्वेद तथा गान्धर्ववेदमें भी दक्षता प्राप्त थी। वे नृत्य-गीतमें अद्वितीय थे। वंशी बजाकर जड़-चेतन सबको मोहित कर लेते थे। वेश बदलनेमें—अभिनय-कलामें भी कम प्रवीण नहीं थे।

श्रीकृष्ण चौंसठों कलाओंमें निपुण थे और चौंसठ-कलामें निपुण होना भागवत-धर्मके विपरीत नहीं है।

× × ×

श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धमें वेदान्त भी बहुत अधिक है। श्रीमद्भागवतमें वेदान्त दो प्रकारसे आया है: १. तत्-पदार्थकी प्रधानतासे स्तुतियाँ हैं और २. त्वं-पदार्थकी प्रधानतासे उपदेश। 'असि' स्वरूप ऐक्यकी प्रधानता तो जहाँ-तहाँ है।

गर्भ-स्तुति, अक्रूर-स्तुति और वेद-स्तुति भी, वेद-स्तुति तो ऐसी है कि वैदिक-साहित्यसे लेकर आजतक जितने स्तुति-काव्य बने हैं, उनमें सर्वप्रथम गिनने योग्य है। उसकी समानताकी तो कोई स्तुति ही नहीं है।

भगवान् व्यासने महाभारतमें प्रतिज्ञा की है:

यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न कुत्रचित्।

'जो महाभारतमें है, वही विश्वमें सर्वत्र है। जो महाभारतमें नहीं, वह विश्वमें कहीं नहीं है।

इस महात्माका ज्ञान और उसपर निष्ठा तो देखें। श्रीमद्-भागवतमें यह प्रतिज्ञा की गयी है:

इत्यशेष - समाम्नाय - पुराणोपनिषद्रसः।
समुद्धृतः पूर्वजातैर्व्योमयानैर्महात्मभिः॥

सम्पूर्ण वेद, पुराण, उपनिषद्का यह रस है।

अत्र समाम्नातमाध्यात्मिकमशेषतः।

इसे पढ़ लेनेपर आध्यात्मिक क्षेत्रमें कुछ भी जानना शेष नहीं रह जाता।

... ...ज्ञातव्यं नावशिष्यते।
पीत्वा पीयूषममृतं पातव्यं नावशिष्यते॥

जैसे अमृत पी लेनेपर और कुछ पीना शेष नहीं रहता, वैसे ही श्रीमद्भागवतका आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त हो जानेपर कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहता। इसका सूत्र उपनिषदोंमें है :

यस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति।

वह कौन-सी वस्तु है, जिसका विज्ञान प्राप्त होनेपर सम्पूर्ण विज्ञान प्राप्त हो जाता है?

अदृष्टं द्रष्टृ अश्रुतं श्रोतृ अमतं मन्तृ अविज्ञातं विज्ञातृ।

ऐसा परमात्मा है। उसके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। उसे जान लिया तो सब कुछ जान लिया!

उन वस्तुओंको हम व्यावहारिक सत्य मानते हैं, जो केवल ब्रह्म-प्रमासे ही बाधित होती है, ब्रह्म-प्रमाके बिना बाधित नहीं होती। आत्मा और ब्रह्म एक है, यह ज्ञान होनेपर ही जिन वस्तुओंका बाध होता है, उस ज्ञानके बिना जिनका बाध नहीं हो सकता, उन्हें हम व्यावहारिक सत्य मानते हैं। इसमें प्रकृति, जीव, ईश्वर, धर्म, कर्म, प्रेम, ज्ञान, योग आदि सब आ जाते हैं।

ब्रह्मप्रमातिरिक्तप्रमाबाध्यत्वं व्यावहारिकसत्यत्वम्।

जबतक ब्रह्मप्रमा नहीं होगी, तबतक द्वैतका बाध नहीं हो सकता। द्वैतका लय हो सकता है कि वह न भासे। द्वैतके बाधका अर्थ है द्वैतका सारा व्यवहार रहे, जगत् ज्यों-का-त्यों भासता रहे, ईश्वरकी पूजा होती रहे, समाधि लगती रहे, जीव अपने धर्म-कर्म करते रहें; पर आत्मा और ब्रह्मकी एकताकी प्रमा हो जाय और उस प्रमासे ब्रह्मातिरिक्त कोई सत्य है, यह भ्रान्ति न रहे।

अधिकारी-ज्ञान, साधन-ज्ञान, प्राकृत परिणामका ज्ञान, विकृतियोंका ज्ञान आदि कराकर श्रीमद्भागवत प्रत्यक्चैतन्याभिन्न अधिष्ठान-ज्ञान करवाता है।

> जनिमसतः सतो मृतिमुतात्मनि ये च भिदां
> विपणमृतं स्मरन्त्युपदिशन्ति त आरुपितैः।
> त्रिगुणमयः पुमानिति भिदा यदबोधकृता
> त्वयि न ततः परत्र स भवेदवबोधरसे॥
>
> १०.८७.२५

जो लोग कहते हैं कि 'मोक्ष अभी नहीं है, कभी साधनसे होगा, वे इस समय जो असत् है, उसका जन्म मानते हैं। यदि अभी मोक्ष नहीं है, कभी पैदा होगा तो मर जायगा। यदि आत्मा अभी ब्रह्म नहीं है, तो होगा और बिगड़ जायगा। अतः जो लोग ब्रह्मता या मुक्तिको साधनजन्य मानकर कहते हैं कि 'पहले आत्मा अनेक है, पीछे एक हो जायगा; जीवके साथ कर्म और कर्मफलका सम्बन्ध सच्चा है' और 'मैं मूढ़, विक्षिप्त, शान्त हूँ' ऐसा अभिमान कर बैठते हैं, वे भ्रान्त हैं। ऐसी धारणाएँ परमात्माके अज्ञानसे ही होती हैं। जब वेद भगवान् अपने इस स्वरूपका ज्ञान करा देते हैं, तब ज्ञान ही अखण्ड अद्वितीय परमात्मा है।

सत इदमुत्थितं सदिति चेन्ननु तर्कहतं
व्यभिचरति क च क च मृषा न तथोभययुक्।
व्यवहृतये विकल्प ईषितोऽन्धपरम्परया
भ्रमयति भारती त उरुवृत्तिभिरुक्थजडान्॥
—१०.८७.३६

सत्से उत्पन्न होनेके कारण जगत् सत् है तो एक सत्य वह रहा 'जो कभी पैदा नहीं हुआ और न मरता है' तथा दूसरा सत्य वह हुआ 'जो पैदा होता और मरता है।' सत्यमें ऐसा भेद मानना सत्यको ही तोड़ना है। असत्यमें भेद हो सकते हैं। वह कभी प्रतीत होता है, तो कभी प्रतीत नहीं भी होता। जो भावाभावरूप है, वह असत्य है। किन्तु जो भावाभावका प्रकाशक अधिष्ठान है, वह कभी असत्य नहीं हुआ करता।

× × ×

श्रीमद्भागवतके दशस्कन्ध उत्तरार्धमें वर्णित कुछ घटनाएँ देखें:

श्री बलरामजी सुभद्राका विवाह दुर्योधनसे करना चाहते थे। बलरामजी प्राणात्मा हैं और श्रीकृष्ण ज्ञानात्मा। वे कहते हैं: 'सुभद्रा हमारी बहन है। हमारे पीत-शेष दुग्धका उसने पान किया है। वह हमारी शक्ति है। ईश्वरके अतिरिक्त दूसरेसे उसका विवाह नहीं हो सकता।'

बलराम: 'ईश्वर तो तुम ही हो।'

कृष्ण: 'हम हैं, पर लोकदृष्टिसे सुभद्रा हमारी बहन है। अतः हमारे दूसरे रूपसे उसका विवाह होगा। अर्जुन मेरा दूसरा रूप है।'

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः भद्रं पश्येमाऽक्षभिर्यजत्राः।
भद्रमपि वासय मे मनः।

यह जो श्रुतिमें 'भद्रं भद्रं' का वर्णन है, वह भद्रादेवी हैं। भद्राका विवाह कृष्णसे और सुभद्राका विवाह अर्जुनसे होता है। अर्जुन और कृष्ण नर और नारायण हैं।

× ×

मिथिलामें श्रुतदेव और राजा बहुलाश्व एक साथ अपने-अपने घर आनेको श्रीकृष्णको निमन्त्रित करते हैं। श्रुतदेव निर्धन ब्राह्मण हैं। घरमें बिछानेके लिए चटाई नहीं है। श्रीकृष्ण उनके घर पहुँचे तो 'धुन्वन् वासो ननर्त ह' प्रसन्नताके मारे वह ब्राह्मण अपना वस्त्र उड़ा-उड़ाकर नाचने लगा।

दूसरा, राजा था बहुलाश्व। दोनोंके प्रति समदृष्टि रखकर भगवान्‌को भले ही दो रूप बनने पड़े; परन्तु दोनोंके घर एक साथ गये। एकके घर लगा कि 'एक दिन हुआ' और दूसरेके घर लगा कि 'एक महीने श्रीकृष्ण यहाँ रहे'; फिर भी काल समान रहा। तात्पर्य यह कि काल स्वयं ईश्वरमें कोई तत्त्व नहीं है।

काल और देश कभी पृथक्-पृथक् नहीं होते। द्रव्यके परिणामसे ही काल ज्ञात होता है। द्रव्यपर जिसकी धारणाशक्ति हो जाती है, जो द्रव्यका नियन्त्रण कर सके, वह देश एवं कालका भी नियन्त्रण कर लेता है।

× × ×

वृकासुरको वरदान देकर रुद्रदेव संकटमें पड़ गये; किन्तु श्रीकृष्णकी लक्ष्मी अनपायिनी है।

महर्षि भृगु यही तो परीक्षा करने निकले थे कि त्रिदेवोंमें-से कौन श्रेष्ठ है? ब्रह्मा और शिवको क्रोध आ जाता है; किन्तु

भगवान् विष्णु क्षमा कर देते हैं। यह ज्ञानका स्वरूप है। अध्यस्तको क्षमा कर देना ही अधिष्ठानका स्वरूप है।

क्षमा (क्ष्मा) का अर्थ है पृथ्वी। कोई पृथ्वीको खोदे, उसपर मल-मूत्र त्यागे या पुष्प-चन्दन चढ़ाकर उसकी पूजा करे, पृथ्वी समान रहती है। इसीको 'क्षमा' कहते हैं। यही 'क्ष्मा' है! यह सम्पूर्ण नाम-रूपात्मक प्रपञ्च जिस पृथ्वीपर टिका है, वह अध्यस्त-मात्रको निरन्तर क्षमा करता रहता है। यही उसकी ज्ञानस्वरूपताका लक्षण है। भगवान् विष्णु ज्ञानस्वरूप हैं।

× × ×

दशम स्कन्धके अन्तिम अध्यायमें श्रीकृष्णपत्नियोंकी तन्मयताका वर्णन है। उसमें प्रेम-वैचित्य हो रहा है। वहाँ योगमें भी भोग और भोगमें भी योग है। संयोगमें भी वियोग और वियोगमें भी संयोग है। श्रीकृष्णके सामने ही उनकी रानियोंको उनके वियोगका मानसिक अनुभव हो रहा है। इसका अर्थ है कि श्रीकृष्ण वैराग्यकी मूर्ति हैं।

मानसिक वियोग, वाचिक वियोग और कायिक वियोग, ये वियोगके तीन पक्ष भागवतमें हैं। श्रीकृष्ण-पत्नियाँ मानसिक वियोगसे ही व्याकुल हो जाती हैं। वाचिक वियोगसे रुक्मिणीजी व्याकुल हुईं। पर गोपियाँ मानसिक और वाचिक वियोगसे व्याकुल नहीं होतीं। वे कायिक वियोगसे व्याकुल होती हैं। उनके मध्यसे भगवान्‌को अन्तर्धान होना पड़ता है।

गोपियोंका प्रेम इतना प्रगाढ़ है कि वहाँ मानसिक वियोग हो तो वे ध्यानमग्न हो जायँगी। यदि रुक्मिणीकी भाँति उनसे

वियुक्त होनेकी बात श्रीकृष्ण करें, तो वे झगड़ जायँगी। वे तो श्रीकृष्णको अपना मानती हैं।

× × ×

तीन अध्यायोंमें कुरुक्षेत्रके ग्रहण-स्नानका वर्णन है। उसमें कहा गया है :

नाग्निर्न सूर्यो न च चन्द्रतारका
न भूर्जलं खं श्वसनोऽथ वाङ्मनः।
उपासिता भेदकृतो हरन्त्यघं
विपश्चितो घ्नन्ति मुहूर्तसेवया॥
यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके
स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचिज्
जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः॥

१०.८४.१२-१३

अग्नि, सूर्य, चन्द्र, तारे (ग्रह) मनुष्यका दुःख दूर नहीं कर सकते। कोई एक लाख वर्षतक योग करे और शान्तिसे बैठा रहे, दूसरा एक क्षणका सत्सङ्ग करे तो वह एक क्षणका सत्सङ्ग मनुष्यकी वृत्तिको ब्रह्माकार करके अविद्याको निवृत्त कर सकता है। लेकिन कोटि वर्षोंकी समाधि अविद्याको निवृत्त करनेमें समर्थ नहीं; क्योंकि समाधिमें निवर्त्य-निवर्तकभाव ही नहीं है। समाधि केवल विक्षेपसे बचकर बैठना है, विक्षेपको मारना नहीं। लेकिन ज्ञान विक्षेपका बाध कर देता है।

इसीलिए भगवान् श्रीकृष्णने कहा : 'जो इस शरीरको मानते हैं 'मैं'; पत्नी-पुत्रको मानते हैं 'मेरा'; पत्थरकी मूर्तिको मानते हैं;

पूज्य; पानीको मानते हैं तीर्थ, किन्तु सन्त पुरुषको न तीर्थ मानते, न पूज्य मानते, न अपना मानते, न आत्मा मानते—यदि बैल, गधा कहीं देखना हो तो ऐसे लोगोंको ही देख लो।'

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः॥ १०.८४.११

पानीके तीर्थ नहीं हुआ करते। मिट्टी-पत्थरके देवता नहीं होते। वे बहुत देरमें पवित्र करते हैं, और जब कि सत्सङ्ग तुरन्त पवित्र करता है। वह हमारे मनको पाप-तापसे निकालकर भगवान्में डाल देता है।

× × ×

कुरुक्षेत्रमें वसुदेवजीने महात्माओंसे पूछा : 'जैसे कर्म कर कर्मसे छुटकारा मिले, वह मुझे बतायें।'

देवर्षि नारद बोल पड़े :

सन्निकर्षो हि मर्त्यानामनादरणकारणम्।
गाङ्गं हित्वा यथान्याम्भस्तत्रत्यो याति शुद्धये॥ १०.८४.३१

एक साथ रहनेसे मनुष्य अनादर करने लगते हैं, जैसे गङ्गा-किनारेके लोग दूरके सरोवरोंमें स्नान करने जाते हैं कि 'हम शुद्ध होंगे।' हमें जो सृष्टिमें संत मिलते हैं, पास रहनेके कारण उनके प्रति तिरस्कारबुद्धि होती है।

यज्ञसे सत्सङ्ग श्रेष्ठ है, यह बात वहाँ कुरुक्षेत्रमें बतलायी गयी और वहीं गोपियोंको भगवान्ने अध्यात्मकी शिक्षा दी।

गोपीनां स गुरुर्गतिः।

श्रीकृष्णने गुरु बनकर गोपियोंको ब्रह्मज्ञानका उपदेश किया।

× × ×

सुदामा दरिद्र हैं। वे जब श्रीकृष्णके भवनमें पहुँचते हैं, तो जिस पलंगपर महारानी रुक्मिणी सोती थीं, उसीपर श्रीकृष्ण बैठाते है : **निवासितः प्रियाजुष्टे पर्यङ्के**। श्रीकृष्ण सुदामाके साथ सोये और रात्रिभर रुक्मिणीजी उन्हें पंखा झलती रहीं। यह ब्रह्मण्यदेवकी ब्रह्मण्यता है। यही भागवत-धर्म है।

सुदामाका वर्णन कवि नरोत्तमने किया है :

सीस पगा न झगा तनमें नहि जानै को आहि बसै केहि ग्रामा।
द्वार खड़ो द्विज दुर्बल एक रह्यो चकिसो बसुधा अभिरामा॥
धोती फटी सी लटी दुपटी तन पाय उपानहुकी नहिं सामा।
पूछंत दीनदयालको धाम बतावत आपनो नाम सुदामा॥

श्रीमद्‌भागवतमें कहा गया है :

प्रीतो व्यमुञ्चदब्बिन्दून् नेत्राभ्यां पुष्करेक्षणः।

श्रीकृष्णके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी। कविके शब्दोंमें :

काहे बेहाल बिवाइन सों, मग कंटक जाल लगे पुनि जोये।
हाय! सखा दुख पायो महा, तुम आये इतै न कितै दिन खोये॥
देखि सुदामाकी दीन दसा करुना करिके करुनानिधि रोये।
पानि परातको हाथ छुओ नहिं, नैननके जल सों पद धोये॥

एक मुट्ठी चावल (चिउड़ा) छीनकर खाया और सुदामाको सम्पूर्ण वैभव दे दिया। सुदामा ब्राह्मण तो थे ही, ऋषि हो गये। श्रीकृष्णने उनका, उनकी पत्नी-पुत्र सबका कल्याण कर दिया।

× × ×

मनुष्यसे जरा भी असावधानी हो जाय तो वह कभी-कभी बड़े अनर्थका कारण हो जाती है। राजसूय-यज्ञके अन्तमें दुर्योधनको पानीमें गिरते देखकर द्रौपदी और भीमसेन ताली पीटकर हँसे और वही हँसी महाभारत-युद्धका कारण बन गयी। अतः मनुष्यको अपने प्रत्येक व्यवहारमें पूरी सावधानी रखनी चाहिए, यह भागवत-धर्मकी शिक्षा है।

भगवान् अपने भक्तका मनोरथ पूरा करते हैं। राजसूय-यज्ञका उद्देश्य यही दिखलाना है कि भगवान् श्रीकृष्ण सर्वोपरि हैं। राजसूय-यज्ञमें उनकी अग्रपूजा होती है।

शिशुपाल, दन्तवक्र आदि श्रीकृष्णसे द्वेष करते हैं। उनका भी कल्याण होता है। युधिष्ठिर कहते हैं: 'श्रीकृष्ण तत्त्वज्ञ हैं। कर्मसे इनके तेजकी न तो वृद्धि होती और न ह्रास। श्रुति कहती है:

एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य
न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्।

जरासन्धको मारनेके लिए भगवान् छलवेश भी ग्रहण करते हैं और भीमसेनको शक्ति देते हैं; क्योंकि एक जरासन्धकी मृत्युसे अयुते द्वे शतान्यष्टौ बीस हजार आठ सौ कैदी मुक्त होते हैं। बीस हजार आठ सौ निर्दोष लोगोंको छुड़ानेके लिए एक राजाका वध भी श्रेष्ठ है, यह बात यहाँ बतलायी। भागवत-धर्ममें हिंसा-अहिंसा नहीं देखी जाती। उसमें भगवत्प्रेरणा मुख्य होती है।

× × ×

श्रीकृष्णके विवाह-प्रसंग भी अद्भुत हैं। कहीं सात बैल नाथकर किसीको ले आते हैं तो किसीको बिना देखे लक्ष्यवेध करके प्राप्त

करते हैं। कोई अपनी कन्या स्वयं दे देता है, तो किसीकी कन्या हरण करके लाते हैं।

भौमासुरने जो सोलह हजार कन्याएँ अपने यहाँ एकत्र कर ली थी; उनके लिए समाजमें कोई स्थान नहीं था। एक असुरके घर वे कन्याएँ इतने दिन कैद रहीं, उनके चरित्रपर कौन विश्वास करता ? क्या समाज उन्हें सम्मानित स्थान देता ? पर वह देते हैं श्रीकृष्ण !

कितना क्रान्तिकारी पग था यह ! युधिष्ठिर मानें या न मानें, द्वारिकावासी स्वीकार करें या न करें, श्रीकृष्णने किसीसे पूछा नहीं, किसीको चिन्ता नहीं की। संसारके लोग भले ही निन्दा करें; किन्तु समाजमें उन कन्याओंको भी सबके समान विवाहित पत्नियोंका स्थान श्रीकृष्णने उनसे विवाह करके दिया। उनकी सन्तानें हुईं और वे श्रीकृष्णकी दूसरी सन्तानोंके समान ही रहीं।

× × ×

राजा पौण्ड्रक मात्सर्यवान् था। वह कृष्णकी नकल करता था। कंस भयग्रस्त अहंकार था; शिशुपाल द्वेषग्रस्त अहंकार था तो पौण्ड्रक मात्सर्यवान्—दम्भग्रस्त अहंकार। इन सबको मारकर भगवान्ने इन्हें भागवती-गति दी।

× × ×

भागवत-धर्मका उदय कहाँसे होता है ?

नाकसे सूँघनेपर भी भागवत-धर्मका उदय हो सकता है। पहलेसे सुना है कि तुलसीकी क्या महिमा है ? वह भगवान्को कितनी प्रिय है ? तो उसकी गन्ध सूँघनेसे भी भागवत-धर्म आयेगा।

मूर्तिके दर्शनसे भी चित्तमें भागवत-धर्म आता है; किन्तु मूर्तिकी महिमा सुनी हुई हो।

सन्तके शरीर-स्पर्शसे भी भागवत-धर्म आयेगा, यदि सन्तके महापुरुष होनेकी बात सुनी हुई हो।

मन्त्रके श्रवणसे भी हृदयमें भागवत-धर्म आयेगा, यदि उसका माहात्म्य सुना हो।

भगवत्प्रसाद खानेसे भी हृदयमें भागवत-धर्म आता है और सन्तका प्रसाद खानेसे भी। देवर्षि नारदने कहा है :

सकृत्स्म भुञ्जे तदपास्तकिल्बिषः।

सूँघनेसे, छूनेसे, भोजन करनेसे, मनमें ध्यान करनेसे—सबसे भागवत-धर्म आता है। किन्तु पहलेसे उसका माहात्म्य-ज्ञान होना चाहिए।

अतीन्द्रिय पदार्थके साक्षात्कारमें—ज्ञान प्राप्त करनेमें एकमात्र साधन है श्रवण। रुक्मिणी कुण्डिनपुर (विदर्भ) में रहती थीं। उन्होंने श्रीकृष्णको छुआ या देखा नहीं था, उनका शब्द नहीं सुना था; परन्तु उनके हृदयमें भागवत-धर्मका—श्रीकृष्ण-प्रेमका उदय हुआ। उन्होंने कहा है :

श्रुत्वा गुणान् भुवनसुन्दर शृण्वतां ते
निर्विश्य कर्णविवरैर्हरतोऽङ्ग तापम्।
रूपं दृशां दृशिमतामखिलार्थलाभं
त्वय्यच्युताविशति चित्तमपत्रपं मे॥

१०.५२.३७.

'मैंने लोगोंके मुखसे आपके गुणानुवादका श्रवण किया है। आपके गुणानुवाद जब कानमें प्रवेश करते हैं तो कानके मार्गसे हृदयमें जाकर सारे पाप-ताप मिटा देते हैं। मेरी लज्जा छूट गयी। मेरा अभिमान टूट गया। अब निर्लज्ज होकर मेरा चित्त तुममें प्रवेश कर रहा है।'

श्रीकृष्ण रुक्मिणीका सन्देश पाकर आये और उन्हें उठा ले गये।

जहाँ वेदान्त-श्रवणकी यह महिमा है कि चित्तवृत्ति ब्रह्माकार होकर अविद्याको नष्ट कर देती है, वहाँ भागवत-धर्ममें स्वयं भगवान् हमारे हृदयमें प्रवेश करके हमारे दुःख, हमारे विक्षेप, हमारे पाप-तापोंको मिटा देते हैं।

'रुक्म' शब्दका अर्थ है हिरण्य। हिरण्यगर्भात्मक वृत्ति रुक्मिणी हैं। वे ईश्वरसे मिलती हैं। द्वारिका लाकर भगवान् उनसे विवाह करते हैं।

२५ ‖ अविद्या-निवृत्ति : मुक्ति

अधिष्ठानरूप ब्रह्मका निरूपण करनेके लिए श्रीमद्भागवतका बारहवाँ स्कन्ध है। अधिष्ठान-तत्त्वके साक्षात्कारके लिए अविद्या-निवृत्ति होनी चाहिए, अतः अविद्या-निवृत्तिरूप मुक्ति ग्यारहवें स्कन्धका प्रतिपाद्य है।

मुक्तिकी प्राप्ति नहीं है। 'मैं बद्ध हूँ, मैं कर्ता, पापी-पुण्यात्मा, सुखी-दुःखी, परिच्छिन्न, आवागमनवाला हूँ, मैं देशमें स्वर्ग-नरक आता-जाता हूँ; कालमें मरता-जीता हूँ, पञ्च भूतोंसे मुझे लाखों शरीर मिलते हैं।' यह त्रिविध भ्रम है। इसकी निवृत्ति तत्त्वज्ञानसे होती है। यही मुक्ति है।

ग्यारहवें स्कन्धमें इस मुक्तिका निरूपण कई ढंगोंसे है। एक मुक्ति ज्ञानप्रधान होती है। एक मुक्ति योगप्रधान तो एक नित्यसिद्ध मुक्ति होती है।

यदुवंशके साथ श्रीकृष्णने भी अपनी देह छोड़ा। यहाँ केवल शरीर-परित्यागलक्षणा मुक्ति है; क्योंकि श्रीकृष्ण नित्य हैं और यदुवंशी उनके नित्य-परिकर हैं।

ग्यारहवें स्कन्धके पाँच अध्यायोंमें यदुवंश-जैसे समृद्ध कुलके भी नाशका वर्णन है। इससे वैराग्य सीखो। श्रीकृष्णके रहते

यदुवंश नष्ट हो गया तो संसारमें दूसरी कोई वस्तु रह नहीं सकती, यह वैराग्य मुक्तिका साधन है।

ग्यारहवें स्कन्धके दूसरे अध्यायमें कहा गया है कि सत्संग मुक्तिका साधन है। वसुदेव-देवकीको देवर्षि नारदका तथा राजा निमिको नव योगेश्वरोंका सत्संग प्राप्त होता है।

नारदजीका सत्संग भक्तका सत्संग है। नारदजी स्वयं वसुदेवके घर पधारे थे। नव योगेश्वर राजा निमिकी यज्ञ-भूमिमें पधारे। राजा यदु अवधूत दत्तात्रयके पास सत्संग करने गये। इस प्रकार घरमें सन्तका आकर उपदेश करना, सन्तका यज्ञ-भूमिमें आना और सन्तके पास जाकर उपदेश-ग्रहण करना, यह तीनों रीतियाँ भागवत-धर्मसम्मत हैं।

क्षणार्धोऽपि सत्सङ्गः शेवधिर्नृणाम्। आधे क्षण भी यदि मनुष्यको सत्संग मिल जाय तो उसका कल्याण हो जाय। यह तो हम लोग अपने दुराग्रहमें फँसे हैं। डरते हैं कि 'कहीं ठगे न जायँ।'

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम्॥

यह मनुष्यशरीर बड़ा दुर्लभ है। इसमें भी भगवान्‌के प्यारे भक्तोंका सत्संग बड़ा दुर्लभ है।

मन्येऽकुतश्चिद् भयमच्युतस्य पादाम्बुजोपासनमत्र नित्यम्।
उद्विग्नबुद्धेरसदात्मभावाद् विश्वात्मना यत्र निवर्तते भीः॥
११.२.३३

संसारके लोग झूठी चीजोंको पकड़कर बैठे हैं। 'असदात्मभावात्'—

छूटनेवाली है, उसे 'मैं-मेरा' समझते हैं। फिर उसके लिए उद्विग्न होते हैं। [बुरी-बुरी चीजोंमें 'मैं और मेरे'का भाव हो जानेके कारण इनकी बुद्धि उद्विग्न है। उद्विग्न इसलिए नहीं हैं कि पैसा आया या गया, मनुष्य मरा या जन्मा। होते इसलिए है कि अपना मन संसारीपनमें उलझा हुआ है।] ऐसे उद्विग्न लोगोंके लिए एक ही उपाय है कि वे देहकी पूजा एवं देहके सम्बन्धियोंकी सेवा-उपासना छोड़कर भगवान्‌के चरणोंमें अपना मन लगायें।

इस भागवत-धर्मकी विशेषता है : **न स्खलेन्न पतेदिह**। इसमें कोई भूल हो जाय तो पाप नहीं लगता। इसमें पतन नहीं होता। सुखादिरूप फलसे भी भ्रष्ट नहीं होता। स्त्री-पुरुष सबके लिए यह मार्ग समान है। इसमें सब कर्म भगवान्‌के उद्देश्यसे किये जायँ, तो वे धर्म हो जाते हैं।

मन्वादि स्मृतियोंमें धर्म बतलाया है, कि अमुक-अमुक कर्म करनेपर धर्म होता है। लेकिन भागवत-धर्ममें सारे कर्म ही धर्म हो जाते हैं :

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वाऽनुसृतस्वभावात्।
करोति यद् यत् सकलं परस्मै
नारायणायैव समर्पयेत्तत्॥

'जो-जो करे, वह सब भगवान्‌को अर्पण कर दे। काम पूरा हो या न हो, फल मिले या न मिले, अपना शरीर भगवान्‌की सेवामें लगा रहे। इस प्रकार मन भगवान्‌में लग जाता है।

'गुरुदेवतात्मा'—गुरु और इष्टको अपना परमप्रेमास्पद समझकर भागवत-धर्मका पालन करना। भगवान्‌की कथाका श्रवण

करना। भगवन्नामका उच्चारण करना। तब भक्ति, वैराग्य और अनुभव अपने जीवनमें आते हैं।

सत्संगमें सन्तोंका संग एक सत्संग है और दूसरा सत्संग है भगवत्संग। सन्त-संगसे मुख्यतः ज्ञानका उदय होता है और भगवत्संगसे होती है, प्रीति। आनन्द प्रकाशित करनेके लिए अपने हृदयमें जो सद्वस्तु है, उसका उदय होना चाहिए। सत्संग बाहर होता है तो भगवत्संग भीतर। अतः चाहे आत्माकारवृत्ति हो या शान्ति द्रष्टाभावमें स्थिति हो या ब्रह्मात्मैक्यबोध, सबमें सत्संग हेतु है।

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥
११.२.४५

सबमें भगवान् और भगवान्में सब! बड़ाई करते हैं, तब भी भगवान् दीखते हैं। प्रेम करते हैं तब भी भगवान् दीखते हैं। खुले नेत्र हैं तो भगवान् दीखते हैं, नेत्र बन्द करते हैं तब भी भगवान् दीखते हैं। अतः सबमें भगवान् और भगवान्में सब देखना एक भक्ति है।

जो केवल ईश्वरमें ईश्वरबुद्धि और शेषमें—'प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा' ईश्वरसे प्रेम, भक्तोंसे मैत्री, दुखियोंपर कृपा और पापियों-द्वेषी लोगोंकी उपेक्षा कर दे, वह मध्यम श्रेणीका भागवत-धर्म पालनेवाला है।

शरीरकी स्थितिसे न घबड़ाना और धन आये या जानेपर ध्यान न देकर भगवान्के प्रेममें मग्न रहना ही भक्ति है।

एक साधन है वैराग्यसे मुक्ति, दूसरा है सत्संगसे मुक्ति। इस सत्संगके ही अन्तर्गत भक्ति और सत्संग दोनों हैं। तीसरा साधन है, विवेकसे मुक्ति।

प्रथम विवेक है, गुण-दोष-विवेक। हमारे जीवनमें जो दोष हैं, वे निकल जायँ और गुण आयें। एतदर्थ गुरुके समीप रहकर सद्गुण धारण करना और दोषोंका परित्याग करना पड़ता है।

द्वितीय विवेक है, माया और आत्माका विवेक—द्रष्टा-दृश्यका विवेक। सम्पूर्ण प्रपञ्च दृश्य जड़ और विनाशी है, पर इसका द्रष्टा चेतन, स्वयंप्रकाश और अविनाशी है।

तृतीय विवेक है, आत्मा और ब्रह्मके स्वरूपका निश्चय कर उनका एकत्व जानना।

ज्ञानक्रियार्थ - फलरूपतयोरुशक्ति-
ब्रंह्मैव भाति सदसच्च तयोः परं यत्।

ज्ञान, क्रिया, विषय और फल—सुख-दुःख आदिके रूपमें जो कुछ सत् या असत् तथा सदसत्से परे है, वह सब ब्रह्म ही भास रहा है। तद्वेहि सोऽस्मि—ऐसा समझो कि मैं वही हूँ।

गुण-दोषका विवेक है अन्तःकरणका शोधन। अन्तःकरणमें काम, क्रोधादि न रहें, शम-दमादि सद्गुण रहें, यह गुण-दोष-विवेकका तात्पर्य है।

न मैं माया हूँ, न वह मेरी है, यह आत्म-शोधन है। यह आत्मा ब्रह्म ही है, यह अनुभूति तत्त्वज्ञानमें है। यह भागवत-धर्म है। इसमें स्थिति न हो पाये तो संसारमें दोष-दृष्टि करके वैराग्य जगाना चाहिए। निष्काम कर्म करके अन्तःकरणको शुद्ध करना चाहिए।

भगवान्‌की आराधना करके अपने चित्तको एकाग्र करना चाहिए। भगवान्‌के चरितका श्रवण करना चाहिए। नव योगेश्वरोंने मुक्तिके ये उपाय बतलाये हैं।

इन पाँचों अध्यायोंमें पञ्चपर्वा अविद्याकी निवृत्तिके लिए विद्याके पाँच पर्वोंका वर्णन है।

श्रीकृष्ण-उद्धव-संवादके चौबीस अध्याय हैं। इसमें योगात्मक साधनोंका वर्णन है। इसमें-से यदु-अवधूत-संवाद वैराग्यप्रधान है। इसमें जितने धर्मोंका वर्णन है, सब प्रायः विरक्त अवधूतके ही धर्म हैं। 'अवधूत' शरीर नहीं, तत्त्व होता है। इस संवादमें चौबीस गुरुओं द्वारा चतुर्विंशतिधा प्रकृतिके सन्तरणका उपाय अवधूतने राजा यदुको और श्रीकृष्णने उद्धवको बतलाया।

ज्ञानका स्वरूप, भक्तिका स्वरूप, चातुर्वर्ण्यके धर्मका स्वरूप, आदि श्रीकृष्णने समझाया है।

भक्तिके ग्रन्थोंमें भक्तिका और ज्ञानके ग्रन्थोंमें ज्ञानका विशद वर्णन मिलता है। धर्मके वर्णनके लिए साठ-सत्तर स्मृतियाँ छपी मिलती हैं। किन्तु भक्ति, ज्ञान, धर्म तीनोंका जैसा वर्णन श्रीमद्भागवतमें है, संस्कृत-वाङ्मयके किसी भी अन्य ग्रन्थमें इतनी स्पष्टतासे धर्मका वर्णन नहीं है।

× × ×

एक ही भगवान् हैं, एक ही प्रकृति है, एक ही प्रकारके पञ्चभूत हैं तो इनमें धर्माधर्म अध्यारोप और अपवादकी दृष्टिसे ही निरूपित होता है। श्रीमद्भागवतका यह दृष्टिकोण देखने योग्य है।

एक अध्यायमें सिद्धियोंका वर्णन है। वेद और धर्मके तात्पर्यके लिए भगवान्ने कहा :

किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत्।
इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद् वेद कश्चन॥
मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते त्वहम्।
एतावान् सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम्॥
मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिद्ध्य प्रसीदति॥
११.२१.४२.४३

सम्पूर्ण वेदोंका तात्पर्य इतना ही है कि विधि-निषेध दोनों मैं हूँ। अग्नि, वरुण, कुबेर, इन्द्रादि सब मेरे नाम हैं। जैसे एक ही स्वर्णमें कंकण, हार, कुण्डलादि बनाये जाते हैं; फिर भेदको मिटाकर कह दिया जाता है कि 'सोना एकरूप है', इसी प्रकार सम्पूर्ण सृष्टिके भेदोंका विकल्पन करके इसका अपवाद किया जाता है।

यह शब्द (वेद) कहता है कि जितना भेद है, सब जादूके खेलकी भाँति दीख रहा है, मायामात्र है। अपने अभावके अधिष्ठानमें ही यह सृष्टि ऐसे दीख रही है, जैसे सर्प अपने अभावके अधिष्ठान रज्जुमें दीखता है।

अधिष्ठानज्ञानसे प्रपञ्चका बाध ही सारे वेदोंका तात्पर्य है। इसमें कर्ता-अकर्ता, द्रष्टा-दृश्य, प्रमाण-प्रमेय, उपास्य-उपासक सब मायाका खेल है। सबका प्रतिषेध करके अन्तमें वेद स्वयंका भी निषेध कर देता है कि एक अखण्ड अद्वितीय परमात्मा है।

× × ×

तितिक्षु ब्राह्मणकी कथा बहुत महत्त्वपूर्ण है। जीवनमें कितनी तितिक्षा होनी चाहिए, यह उसमें बतलाया है। आगे पुरूरवाकी—ऐलकी कथा है। भगवान्‌की उपासनाका वर्णन है। परमार्थका निरूपण है।

यह भी कहा गया है कि तत्त्व १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १६, २४, ३६ जो भी कोई बतलायें, सब ठीक है। जिसे जैसा दीख रहा है, वह वैसा ईमानदारीसे बोलता है।

> परस्वभावकर्माणि न प्रशंसेन्न गर्हयेत्।
> विश्वमेकात्मकं पश्यन् प्रकृत्या पुरुषेण च॥
> परस्वभावकर्माणि यः प्रशंसति निन्दति।
> स आशु भ्रश्यते स्वार्थादसत्यभिनिवेशतः॥
>
> ११.२८.१-२

अंगूरको चाहिए कि वह करेलेकी निन्दा न करे और करेलेको चाहिए कि वह अंगूरकी निन्दा न करे। अंगूरने कहा : 'करैले! तू कड़वा है।'

करैला : 'अंगूर! तू रोगकी, मधुमेहकी जड़ है।'

जो इस निन्दा-स्तुतिमें लग जाता है, वह द्वैतको तत्त्व मानता है। असत्‌में अभिनिवेश हो जानेके कारण वह स्वार्थसे भ्रष्ट हो जाता है, क्योंकि द्वैत है ही नहीं। चाहे कुछ कहा जाय, कुछ किया जाय, कुछ सोचा जाय, कुछ हो जाय अथवा कुछ बोला जाय, जब हम लड़ते हैं, तब असत्यको सत्य मानकर लड़ते हैं। तब असत्यमें अभिनिवेश हो जानेके कारण शक्तिभंग हो जाता है :

> प्रत्यक्षेणानुमानेन निगमेनात्मसंविदा।
> आद्यन्तवदसज्ज्ञात्वा निःसङ्गो विचरेदिह॥

जिसका आदि और अन्त है, उसको ओर दृष्टि डालने योग्य नहीं है। निःसंग होकर पृथ्वीमें विचरण करो। जैसे सूर्य विचरण करता है। कहीं भी जीवनमें आसक्ति न हो।

इस प्रकार ग्यारहवें स्कन्धका अट्ठाइसवाँ अध्याय परमार्थ-निरूपणका अध्याय है। उन्तीसवें अध्यायमें भागवत-धर्मका वर्णन है :

नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात्।
स्पर्धासूयातिरस्काराः साहङ्कारा वियन्ति हि॥
११.२९.१५

सबमें एक ही परमात्मा परिपूर्ण है, यह बात जब हम देखते हैं तो किसीसे स्पर्धा नहीं होती। किसीके प्रति असूया नहीं होती। अपनेमें अहंकार नहीं होता। किसीका तिरस्कार नहीं होता।

ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिंगके।
अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक् पण्डितो मतः॥
११.२९.१४

ब्राह्मणमें और कसाईमें, चोरमें और ब्राह्मणभक्तमें, सूर्यमें और चिनगारीमें, क्रूरमें—अक्रूरमें, सबमें एक परमात्माका दर्शन जिसे होता है, वह विद्वान् है। वह समझदार है। वह भागवत-धर्मको जानता है।

× × ×

अन्तके दो अध्याय केवल शरीर-त्यागरूप मोक्षके प्रतिपादक हैं अर्थात् वे लोग तो मुक्त ही हैं।

यहाँ प्रश्न उठाया है: 'श्रीकृष्णने अपने शरीरका त्याग क्यों किया?'

भगवान्ने यह विचार किया : यदि मैं अपने शरीरको रख लूँगा तो संसारके ज्ञानी लोग अपने-अपने शरीरको रखना चाहेंगे। 'शरीर ही सब कुछ है' ऐसा लोग मानने लगेंगे। शरीरका महत्त्व बढ़ जायगा। अतः मर्त्येन किं स्वस्थगतिं प्रदर्शयन्।' इस मरनेवाले शरीरको रखकर हम क्या करेंगे। स्वस्थ पुरुष शरीरकी अपेक्षा नहीं रखता।'

इसलिए प्रथम स्कन्धमें कहा :

यया हरद् भुवो भारं तां तनुं विजहावजः।'

जिससे पृथ्वीका भार उतारा, उस शरीरको कृष्णने छोड़ दिया।

कण्टकं कण्टकेनैव द्वयं चापीशितुः समम्।

जैसे एक कांटा निकालकर दोनों कांटे फेंक देते हैं, इसी प्रकार श्रीकृष्णने यदुवंशसे पृथ्वीका भार दूर किया और यदुवंशको भी छोड़ दिया। जो वंशत्व था, उसका परित्याग कर दिया।

यथा मत्स्यादिरूपाणि धत्ते जह्याद्यथा नटः।

जैसे एक नट एक-पर-एक वेश धारणा करता जाता है, पहिले छोड़ता जाता है, इसी प्रकार भगवान् भी अपने शरीरका परित्याग करते हैं, जैसे आकारका भेद होने पर मिट्टी, पानी आदि पंचतत्त्वोंमें भेद नहीं है, ऐसे ही मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम आदि आकार-भेद होनेपर भी चित्स्वरूप ईश्वरमें भेद नहीं है।

२६ | सबके आश्रय

श्रीमद्भागवत पूरा श्रीभगवान्‌का शरीर है। शरीरमें बारह अंग मुख्य माने जाते हैं। द्वादशाक्षर मन्त्र है, द्वादशी व्रत है, दस इन्द्रियाँ, एक मन और बारहवाँ चेतन। इसी प्रकार द्वादश स्कन्धोंके रूपमें श्रीमद्भागवतका वर्णन है। इनमें से बारहवाँ स्कन्ध वस्तुप्रधान है। ईश्वरका स्वरूप क्या है, तत्त्व क्या है, इसका इस स्कन्धमें प्रतिपादन है।

इसके पहले अध्यायमें बतलाया गया है: कितने राजा होते और मर जाते हैं। संसारमें उथल-पुथल होती रहती ही है। सेवक स्वामीको मार डालता है, बेटा बापको मार डालता है। एक वंशसे दूसरे वंशमें राज्य चला जाता है। एक ही देशपर अनेक राजा होते हैं। सम्पूर्ण लोक और देशके आश्रय भगवान् हैं।

कालकी गति कितनी तीव्र है! उसमें पशु भी कभी छोटे होते हैं, कभी बड़े होते हैं। पौधे भी कभी छोटे, कभी बड़े होते हैं। गाय कभी दूध कम देती है तो कभी अधिक देती है। वृक्षोंमें कभी फल अधिक लगते हैं, तो कभी कम लगते हैं। यह सम्पूर्ण विश्व कालके अधीन है। कभी धर्मात्मा बढ़ते हैं, अधार्मिक नष्ट हो जाते हैं, तो कभी अधार्मिक बढ़ते हैं और धर्मात्माओंका पता ही नहीं

लगता। लोकाश्रय, देशाश्रय, धर्माश्रय, कालाश्रय, द्रव्याश्रय, सब कुछ भगवान् ही हैं।

नित्य प्रलय हो रहा है। प्रत्येक वस्तुका उत्पत्ति-क्षण ही उसका-मृत्यु क्षण है। आप नहीं बतला सकते कि कब सेकेण्डका प्रारम्भ होता है और कब अन्त होता है। दिनका भी प्रारम्भ और अन्त प्रत्येक स्थानका भिन्न-भिन्न है। कालकी भी प्रत्येक उत्पत्ति उसकी मृत्यु है, प्रत्येक मृत्यु उत्पत्ति है।

नैमित्तिक प्रलय होता है। नित्य प्रलय होता है। प्राकृत प्रलय होता है। तत्त्वज्ञान द्वारा जब अखण्ड परमात्माका बोध होता है, तब आत्यन्तिक प्रलय होता है। प्रलयके बाद फिर सृष्टि हो जाती है। मृत्युके बाद तादृश सृष्टि होती है। इसीलिए लगता है कि संसार जो कल था, वही आज है। नलका पानी जैसे बराबर गिर रहा हो, झरना बराबर बह रहा हो, वैसे ही यह मनुष्य बराबर रह रहा है। यह केवल सादृश्यके कारण प्रतीत हो रहा है। नहीं तो प्रत्येक मनुष्य बदलता ही जा रहा है।

दिन-रात बदल रहे हैं, और कण-कण बदल रहा है। अद्वितीय अखण्ड परमात्माकी दृष्टिसे दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। जब ब्रह्मात्मैक्य-बोध होता है, तब आत्यन्तिक प्रलय होता है।

बुद्धीन्द्रियार्थरूपेण ज्ञानं भाति तदाश्रयम्।

एक ज्ञान ही ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय एवं विषयोंके रूपमें भास रहा है। अखण्ड ज्ञान ही सत्य है, वही आत्यन्तिक प्रलय है।

नित्यप्रलय, नैमित्तिक प्रलय, प्राकृत प्रलयसे बचनेके लिए भगवान्का भजन करना चाहिए। भगवान्का भजन करनेसे

ज्ञान होता है। भजनाश्रय भी भगवान् हैं और ज्ञानाश्रय भी भगवान् हैं।

ज्ञानके सम्बन्धमें श्री शुकदेवजीने राजा परीक्षितको उपदेश किया :

त्वं तु राजन् मरिष्येति पशुबुद्धिमिमां जहि।

अरे! ये कण-कण तो मर रहे हैं, क्षण-क्षण तो मर रहे हैं; परन्तु जो चेतन, साक्षी है, वह नहीं मर रहा है। यह तो मूर्खोंकी, पशुओंकी बुद्धि है जो कहते हैं कि 'मैं मरता हूँ।' वस्तुतः आत्मा अखण्ड चैतन्य ब्रह्म ही है। यह देश, काल या वस्तुमें नहीं मरता। यह तीनोंके अभावमें भी नहीं मरता।

अन्तमें राजा परीक्षित्को शुकदेवजी महाराजने उपदेश किया :

अहं ब्रह्म परं धाम ब्रह्माहं परमं पदम्।
एवं समीक्षन्नात्मानमात्मन्याधाय निष्कले॥
दशन्तं तक्षकं पादे लेलिहानं विषाननैः।
न द्रक्ष्यसि शरीरं च विश्वं च पृथगात्मनः॥
१२.५.११-१२

'मैं ब्रह्म हूँ, ब्रह्म ही मैं हूँ, मैं ही ब्रह्म हूँ, यह आत्मा निष्कल ब्रह्म है' इस प्रकार अपनी समीक्षा करो। यह कालरूप तक्षक (बढ़ई) वस्तुओंको काट-पीटकर सदा गढ़ता रहता है। उन्हें नया-नया बनाता रहता है।

संसारोरगदष्टं यत् विष्णुरातममूमुचत्।

संसाररूपी तक्षक-दंशसे शुकदेवजीने मुक्त कर दिया अर्थात् कालचक्रसे उन्हें छुड़ा दिया।

अतः ज्ञानके आश्रय भी भगवान् हैं और मुक्तिके आश्रय भी भगवान् हैं। आगे बतलाया कि इसमें प्रमाण जो वेद हैं, उनके आश्रय भी भगवान् हैं। भगवान् ही वेद-ज्ञान देते हैं।

× × ×

जो ईश्वर और धर्म दोनोंको नहीं मानते, उनको शास्त्रकी आवश्यकता नहीं होती, जैसे चार्वाक। जैन और बौद्ध धर्मको मानते हैं। अतः शासनकी उन्हें आवश्यकता होती है। जैनशासन तीर्थङ्करोंके उपदेशों और बौद्धशासन बुद्धके उपदेशोंको स्वीकार कर चलता है। जैनागमोंमें तीन प्रकारके वचन प्रमाणस्वरूपमाने गये हैं : १. तीर्थङ्करोंके वचन, २. साधकोंके वचन और ३. विद्वानोंके वचन। बौद्धागममें नित्य वस्तुको स्वीकार नहीं किया गया है, अतः उनमें शासनकी प्रधानता नहीं है। केवल तर्ककी प्रधानता होती है। जैनागममें जीवात्माको नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, परिच्छिन्न, उज्ज्वलरूपमें स्वीकार किया है, अतः जैनशासन चलता है। बौद्ध मानते हैं : 'कोई भी वस्तु नित्य, चेतन, सत्य, स्वभाववान्, प्रमाण-प्रमेय आदि रूपमें नहीं है।'

लेकिन जो लोग ईश्वर और धर्म दोनोंको स्वीकार करते हैं, उनको ग्रन्थ स्वीकार करना पड़ता है। जैसे सिखोंमें ग्रन्थसाहब, मुसलमानोंमें कुरान शरीफ, ईसाइयोंमें बाइबिल और हिन्दुओंमें वेद हैं।

ग्रन्थोंके ये दो भेद होते हैं—'ये ईश्वरके वचन हैं, इसलिए प्रमाण हैं अथवा ईश्वरके स्वरूपको बतलाते हैं, इसलिए प्रमाण हैं।' कुरान और बाइबिल इसलिए प्रमाण हैं कि ये ईश्वरके वचन हैं, किन्तु ये ईश्वरके वचन हैं, इसमें क्या प्रमाण है?

हम लोग वेदको ईश्वरका वचन होनेसे प्रमाण नहीं मानते। एक अनुत्पन्न, नित्यशुद्ध, सहज, अपौरुषेय, चैतन्यका निरूपण करनेके कारण प्रमाणत्वेन वेद प्रमाण हैं। वस्तु-साक्षात्कारकत्वेन वेद प्रमाण हैं। ईश्वरोक्त होनेसे वेद प्रमाण नहीं। ईश्वरका साक्षात्कार करानेवाला होनेसे ही वेद प्रमाण है।

दूसरे ग्रन्थोंकी गति यह है कि पहले ईश्वरको मान लो, तब उसके वचनके रूपमें ग्रन्थको मानो। यहाँ वचनके अनुसार चलो तो ईश्वर मिल जायगा। ऐसे वेदके आश्रय भगवान् हैं, यह बतलाया गया।

मार्कण्डेयोपाख्यानमें बतलाया गया कि समस्त सृष्टि, स्थिति, प्रलय मायामात्र है। इस प्रकार समझाया गया कि भगवान् विश्वाश्रय और मायाश्रय हैं।

इसके पश्चात् प्रतीकोपासनाका स्पष्टीकरण करके कहा गया कि भगवान् सब प्रतीकोंके आश्रय हैं। उनकी त्रिगुणमयी मायाको 'वनमाला' कहते हैं। उनके हाथका चक्र कालचक्र है, पद्म जलतत्त्व है। इस प्रकार तत्त्वात्मक व्याख्या करके उपासनाके लिए जो मूर्ति होती है, वह प्रतीकात्मक है, यह बतलाया।

खगोलके आश्रय भगवान् हैं, यह बात सूर्यव्यूहके वर्णनसे बतलाया।

अन्तमें बतलाया गया कि श्रीमद्भागवतकी सम्पूर्ण लीला-कथाओंके आश्रय भगवान् हैं और सम्पूर्ण पुराणोंके आश्रय भी भगवान् ही हैं। सम्पूर्ण वृत्तियोंके साक्षी ये आत्मदेव अखण्ड ब्रह्म हैं।

उपसंहार

इस प्रकार मनुष्य-जीवनके लिए श्रीमद्भागवतमें जीवनके सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें आदर्श प्रेरणा दी गयी है।

इसमें केवल मनुष्य-धर्म ही नहीं, प्राणि-धर्म, ईश्वर-धर्म, जीव-धर्म, प्रकृति-धर्म, ब्रह्म-धर्म आदि सब धर्मोंका समावेश इस भागवत-धर्ममें हो जाता है।

- प्राचीन-अर्वाचीन ज्ञान-विज्ञानकी प्रतिनिधि
- पुरुषार्थ प्रतिपादक
- प्रसन्न-गम्भीर पत्रिका

चिन्तामणि

संस्थापक : *अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती जी महाराज*

वार्षिक मूल्य चार रुपये

उद्देश्य : प्राचीन वेद-शास्त्रोक्त पद्धति एवं नवीन वैज्ञानिक रीतिसे जन मानसमें सच्चारित्र्य सद्भावना एवं सत् ज्ञानका प्रकाश करके उसे धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष पुरुषार्थका भाजन बनाना और भक्ति-शक्तिसे भरपूर करके आध्यात्मिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, चारित्रिक, सामाजिक, आर्थिक समृद्धियोंसे परिपूर्ण बनाना तथा मानव-जीवनके अवान्तर एवं चरम लक्ष्यकी प्राप्तिमें सहायक होना।

- देशके प्रत्येक प्रदेशमें जिसका प्रवेश हो चुका है।
- प्रत्येक जिज्ञासु पाठकके लिए जो उत्कृष्ट सामग्रीसे सुसज्जित है।
- जो विश्वके उच्चतम सन्तों और विद्वानों द्वारा प्रशंसित है।

ऐसी पत्रिका के विकास-विस्तारमें सहयोगके लिए हम आपसे सादर अनुरोध करते हैं।

सम्पादक :
आनन्द-कानन
सीके. ३६/२०, वाराणसी-१

व्यवस्थापक :
सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट
'विपुल' २८/१६ रिजरोड, बम्बई-६